भूमिका।

यह अनवरतपरिवर्तनशील, अनादिकालसे विद्य-
मान, अनेकानेकआकारसे रचित, स्वप्न-विलक्षण,
[illegible], विश्व-निर्माण. सांख्य. पातञ्जल-सिद्धान्तमें
यदि सत् (नित्य) नामसे अर्थात् उत्पत्ति-विनाश-
रहित, केवल आविर्भाव और तिरोभावके द्वारा
व्यक्त और अव्यक्त होकर स्थूल तथा सूक्ष्म जगत्
शब्दसे कहा गया है, तो ठीक उसके विरुद्ध असत्
(अनित्य) नामसे अर्थात् क्षणिक जगत् शब्दसे
[illegible] मतानुयायियोंके द्वारा कहा गया है।

न्याय, वैशेषिक मतके अनुसार, सत्-असत्
[illegible] अर्थात् कहीं पर जगतकी वस्तु सत् (नि
[illegible], कहीं पर असत् (अनित्य) है, इस रूपसे [illegible]
[illegible] किया जा चुका है।

इस प्रकार परस्पर विरुद्ध विवाद-ग्रस्त मत म
[illegible] भ्रम-मरीचिकामें संभ्रान्त, शान्ति-पिपासु [illegible]
[illegible] कामनाओंके लिये तुरन्त, अन्तर्यत, अनि

३८८२
दर्शन ६८

भूमिका

यह अनवरतपरिवर्तनशील, अनादिकालसे विद्यमान, अनेकानेकआकारसे रचित, स्वप्न-विलक्षण, कार्यकारी, विश्व-निर्माण, सांख्य, पातञ्जल-सिद्धान्तमें यदि सत् (नित्य) नामसे अर्थात् उत्पत्ति-विनाशरहित, केवल आविर्भाव और तिरोभावके द्वारा व्यक्त और अव्यक्त होकर स्थूल तथा सूक्ष्म जगत् शब्दसे कहा गया है, तो ठीक उसके विरुद्ध असत् (अनित्य) नामसे अर्थात् क्षणिक जगत् शब्दसे बौद्ध-मतानुयायियोंके द्वारा कहा गया है।

न्याय, वैशेषिक मतके अनुसार सत्-असत् नामसे अर्थात् कई एक जगतकी वस्तु सत् (नित्य) है, कई एक असत् (अनित्य) है, इस रूपसे प्रतिपादन किया जा चुका है।

इस प्रकार परस्पर विरुद्ध विवाद-मल मत मतान्तरकी मरु-मरीचिकामें संभ्रान्त, शान्ति-पिपासु जगतके परम कल्याणके लिये दुरूह, अनवद्य, अनिर्वच-

नीय सृष्टिका रहस्य समझानेके लिये, उलझनोंमें प
हुई जनताको सुलझानेके लिये उद्देश्यसाधक जला
यकी ओर जानेके एक निश्चित मार्गका इसारा त्रिश
लज्ञ, परम कारुणिक, भगवान् वेदव्यासजीके द्वा
"ब्रह्म-सूत्र" नामसे किया जा चुका है।

मानव-जगतके एकमात्र परम श्रेयस्कर उ
इसारेको परम पुनीत समझकर त्रिलोकी-पूज्य भगवा
शंकरने अपना अवतार धारण करके अपने लोकोत
मधुर-गम्भीर शब्दार्थ-द्वारा भाष्य नामसे अङ्कित क
उस जलाशयको अगाध क्षीरामृत समुद्र बना सोने
सुगन्धि कर दी है।

इसके पश्चात् अर्वाचीन, धुरन्धर, अद्विती
विद्वद्दिग्गज, पूज्यपाद वाचस्पति मिश्रने मान
जगतको भलीभांति उस भाष्याब्धिकी बहार लेनेके
लिये अति रमणीय भामती नामकी व्याख्या रूप
पुलके द्वारा अद्वैत-सिद्धान्तका सरल मार्ग बनाक
उपकारकी पराकाष्ठा करदी है।

जिसके लिये मानव-जगत भूरि भूरि कृतज्ञ रहेगा।
... भी कई एक शंकर भगवान्के अनुया

र्योंने, जैसे-स्वनाम-धन्य मधुसूदन सरस्वतीने अद्वैत-सिद्धि" "अद्वैत-रत्न-रक्षा" आदि माननीय त्सुखाचार्यने "चित्सुखी" विलक्षण प्रतिभाशाली श्रीहर्षने खण्डन-खण्ड खाद्य ग्रन्थकी रचनाकर उस होपकारक अद्वैत-मार्गमें विरोधियोंके द्वारा आक्षिप्त तर्करूपी कंटक राशिका उद्धार करके विरोधियोंके मस्त दुष्प्रयासको व्यर्थ कर दिया है।

अद्वैत-सिद्धान्तकी दुरूहार्थताका अनुमानकर पण्डित-पुङ्गव विद्यारण्य स्वामीने "पञ्चदशी" और र्मराज नामके याजकने "वेदान्त-परिभाषा" को लखकर साधारण संस्कृत जाननेवाले व्यक्तिका नी बहुतसी कठिनाइयोंको दूर कर दिया है।

किन्तु हिन्दी भाषा-भाषियोंकी कठिनाइयां पूर्ववत् ो रह गई थीं, जिन्हें हटानेके लिये समस्त दर्शन-त्त्वज्ञ ब्रह्म-निष्ठ निश्चल दासने लोकहितेच्छुतासे रित होकर "विचार सागर," "वृत्ति प्रभाकर" दो म्भीर ग्रन्थोंको लिखकर हिन्दी भाषिणी जनताका द्यपि एक सिरेसे दूसरे सिरे तक उपकार कर दिया है।

और स्वामी चिद्घनानन्दजीने "तत्त्वानुसंधान," "आत्म-पुराण," आदि वेदान्तग्रन्थोंका हिन्दी भाषामें अनुवादकर संस्कृत भाषानभिज्ञ जिज्ञासु जनताके लिये भगीरथ-प्रयास किया है।

और भी कई पीताम्बर आदिके द्वारा निर्मित हिन्दी भाषाके वेदान्त ग्रन्थके होनेपर भी आजकी हिन्दी भाषाके सिलसिलेमें, इस हिन्दी साहित्यकी उन्नतिकी प्रगतिमें, परम पवित्र आर्यावर्त्त की मातृ-भाषाके गौरवको प्राप्त खड़ी भाषामें, आजतक प्राचीन सिद्धान्तके अनुसार एक भी ग्रन्थ नहीं लिखा गया था, जिससे समयकी ढाँचेमें ढलनेवाली जनताकी अभिरुचि इधर नहीं सी हो गयी है।

मानव जातिके एकमात्र परमहितकर इस प्रकारके अमूल्य रत्नकी ओर लोगोंका विशेषकर परलोकवादी जिज्ञासु सज्जनोंका उपेक्षा-भाव रखना सर्वस्वको खोना है, इसीको शास्त्रोंमें आत्म-हनन कहा है, जो महापाप है।

इन सब बातोंका विचार करनेसे किस दयालु, धर्मात्मा महापुरुषका हृदय विदीर्ण नहीं होता है।

इस महात्रटिको पूर्ण करने तथा एकमात्र कल्याण कारक उसी प्राचीन वेदान्तदर्शनकी महत्ताको प्रचलित भाषामें लानेके लिये उन्नति शील हिन्दी साहित्यके दार्शनिक प्रधान अंशकी रिक्तताको पूर्ण करनेके तुच्छ सेवाभावकी मेरी बड़ी अभिलाषा बहुत दिनोंसे थी। यद्यपि बाधा परम्परासे बाधित होनेके कारण मैं स्वयं उस सेवा-सौभाग्यको प्राप्त नहीं कर सका, तथापि हमारे स्नेहास्पद मिमाणी कुलका गौरवचन्द्र क माहेश्वरी जातीय परम आस्तिक श्रीयुत बाबू सूर्य-मल्लजी मिमाणीने (जीवनराम गंगाराम फार्मके मालिकने) "ज्ञान-रत्नाकर" नामके ग्रन्थका निर्माण कर जनताका महान् उपकार कर दिया है।

पूर्ण धनवान होते हुए आपका यह विद्याप्रेम धनी जगतके लिये आदर्श है। ईश्वर आपको दीर्घायु रखे, यह हमारी हार्दिक अभिलाषा है।

इस ग्रंथमें ठीक २ प्राचीन सिद्धन्तकी यथावत् छायाका अनुसरण किया गया है। आजकल सिद्धान्तको नहीं समझ इधर उधरकी कपोल कल्पित दो चार पुस्तकोंको पढ़कर आधुनिक वेदांती कहलानेवाले

कई एक यशोलोलुप अपने मन गढ़न्त अद्वैत-सिद्धान्तका प्रचार कर सिद्धांतसे अपरिचित लोगोंको भ्रममें डाल देते हैं, जिससे जनतामें असल विद्याका प्रचार होना दिखाई नहीं देता है, वर्नो अविद्याका प्रचार आये दिन अधिकाधिक रूपमें हो रहा है।

उस ज्वलंत अविद्या-प्रचारका समूल विनाश करनेके सदुद्देशसे यह सिद्धांतानुयायी अत्यंत सरल नवीन ग्रंथ लिखा गया है, इस पुस्तककी उपकारिता तथ्या-तथ्य विवेचक जनतासे अविदित नहीं रहेगी, इसकी मुझे पूर्ण आशा है।

इसका वर्णन-क्रम मौलिक और सरलता पूर्ण है। इसकी सहायतासे जिज्ञासु छात्र अनायास ही अपने पाठ्य विषयको समझ सकेंगे।

विद्यालय और महाविद्यालयके अध्यापकगण भी इस पुस्तकके माहात्म्यसे एक बातका सुगमसे सुगम-तक उपाय-द्वारा विद्यार्थीको समझानेमें विशेष सफल हो सकेंगे।

अतः निर्माणी महोदय हिन्दी भाषिणी जनताके ... सरल उपायसे मानव जीवनके उद्देशको करनेके अभिलाषियोंके विशेष धन्यवादार्ह हैं।

हमारी शुभ कामना है कि यह अमूल्य उपहार लोगों-में अत्यधिक आदर उपार्जन करे।

इस पुस्तकमें चौदह रत्न लिखे गये हैं।

प्रथम रत्नमें अनुबन्ध-चतुष्टय और साधन-चतुष्टयका विचार किया गया है।

द्वितीय और कुछ तृतीयमें अनुबन्ध-चतुष्टयका खण्डन और उसका मण्डन किया गया है। अवशिष्ट तृतीय रत्नमें 'तत्त्वम्' पदार्थका विचार किया गया है। चतुर्थ रत्नमें मायाका निरूपण है। पञ्चममें ईश्वर और जीवका निरूपण है। षष्ठमें जीवके विषयमें प्रतिबिम्ब वादका निरूपण है। सप्तममें जीवके विषयसे अवच्छेद वादका निरूपण है। अष्टमसे जीवके विषयमें अनिर्वचनीयवादका निरूपण है। नवम और दशममें एकजीव वाद और नानाजीववादका निरूपण है। एकादशमें सृष्टि प्रक्रियाका विचार किया गया है। द्वादशमें शाब्दीप्रमाका विचार किया गया है। त्रयो-दशमें ख्यातिका निरूपण है। चतुर्दशमें पंच-कोशविवेक, प्रमाण और अध्यासका निरूपण किया गया है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलनकी परीक्षाका पाठ्य पुस्तक-निर्णायक महोदयका दृष्टि हम इस अनोखी पुस्तककी ओर आकर्षित करना चाहते हैं।

मेरी संशोधकतामें यह पुस्तक लिखी गयी है अतः इसकी भूल चूकके लिये मैं क्षमा प्रार्थी हूं।

पं० शिवनारायण झा

मिमाणी महोदयका संक्षिप्त परिचय

विक्रम संवत् सन् १९५८ में आपका शुभ जन्म कलकत्तेमें हुआ। आपके पिताका नाम श्रीयुत बाबू रामप्रतापजी मिमाणी है। कलकत्ते में आपका कारबार सराहनीय है। आपकी रहन सहन सीधी है। आपका आस्तिक भाव भी सदाचारपूर्ण है। शास्त्रमें जिस प्रकार आपकी प्रतिभा शक्ति विलक्षण है, उसी प्रकार व्यापार क्षेत्रमें भी आपकी सूक्ष्म व्यापारियोंके लिये प्रशंसनीय है। आपके सौजन्यसे आपके पिता तथा पितृ-भ्राता बाबू सुगनचन्दजी प्रभृति परिवारवर्ग सदैव प्रसन्न रहा करते हैं।

पहले आप विचार चन्द्रोदय, विचार सागर, और वृत्ति प्रभाकर आदि हिन्दी भाषाके आदरणीय ग्रन्थका सविधि अध्ययन कर चुके हैं, जिससे आपकी विलक्षण प्रतिभा शक्ति वेदान्तके समस्त सैद्धांतिक विषय यथावत् ग्रहण करके चमकउठी थी।

पश्चात् वेदांत परिभाषा, पञ्चदशी, तत्त्वानु-

सन्यान आदि वेदांतके संस्कृत ग्रन्थका आपने सम्यक् अभ्यास किया। जिससे दार्शनिक संस्कारका दाढ्र्य और भी अधिक बढ़ गया है। इसके बाद व्यापारिक कार्यभारकी गुरुता रहते हुए भी वर्त्तमान समयमें आप वेदान्तके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कठिनतम शास्त्र ब्रह्म-सूत्रके शाङ्करभाष्य, और भामती नामकी उसकी प्रसिद्ध टीका सपरिश्रम अध्ययन कर रहे हैं। यह आपका शास्त्रीय जीवन है।

पं० शिवनारायण झा

※ श्रीगणेशाय नमः ※
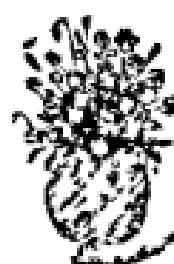
लेखकका वक्तव्य

मैं कोई बड़ा विद्वान् नहीं हूं। अत्यन्त दुरूह संस्कृत विद्याका मुझे विशेष ज्ञान भी नहीं है। किन्तु इन दिनों मेरे पूज्य गुरुवर श्रीयुत पं० शिवनारायणजी शास्त्री मैं ब्रह्मसूत्रका शांकरभाष्य और भामती नामकी उसकी प्रसिद्ध टीका पढ़ रहा था। पढ़ते समय एकदिन पण्डितजीने एक ऐसी पुस्तक लिखनेके लिये मुझे आदेश प्रदान किया, जिसमें दर्शन शिरोमणि वेदान्त शास्त्रके सिद्धांतका हिन्दी भाषामें भलीभांति समावेश हो सके।

उनका इस महत्त्वपूर्ण आदेशको सुनकर और अपनी अयोग्यताका अनुमानकर मैं अवाक् रह गया। मेरे मौनावलम्बनको हटाते हुए पंडितजीने जब इस पुस्तकके संशोधन करनेका समस्त भार अपने ऊपर लिया, तब उनके आदेशको शिरोधार्य्य करके जो कुछ भी मुझसे हो सका, मैंने अपने हृदयका उल्लास आप महानुभावोंके सामने रख दिया है। हां, इतना मैं अवश्य कहूंगा कि इस पुस्तकको मैंने उसी

सिद्धांतका लेकर लिखा है, जो अद्वैत मतका भगवान् शंकरका सर्वमान्य सिद्धांत है। यद्यपि सरल भाषामें पुस्तक लिखनेके लिये यथाशक्ति परिश्रम किया गया है तो भी अत्यन्त गंभीर विषय रहनेके कारण सबोंके लिये इसका समझना कठिन ही है। क्योंकि उत्कट जिज्ञासा हुए विना ब्रह्म-बोध नहीं होता है। जिन्हें लौकिक वस्तुओं (धन, स्त्री और पुत्र इत्यादि) की तो जिज्ञासा रहती है और ब्रह्म-बोधकी जिज्ञासा नहीं रहती है, उनके लिये ब्रह्म-बोध होना दुःसाध्य ही नहीं, असम्भव है। और जिन्हें लौकिक वस्तुओंकी जिज्ञासा रहती है तथा ब्रह्म-बोधकी भी जिज्ञासा रहती है, उनके लिये भी वास्तव ब्रह्म-बोध प्राप्त करना दुस्साध्य है।

किन्तु जिन सज्जनोंको ब्रह्म-बोधकी तो उत्कट जिज्ञासा रहती है और लौकिक वस्तुओंकी सामान्य जिज्ञासा रहती है उनको ही ब्रह्म-बोध होता है, यह शास्त्रकी मर्यादा है, और उन्हें यह पुस्तक अवश्य सरल जंचेगी। फिर भी यदि किसी जिज्ञासु सज्जनों-का इस पुस्तकप्रकाशनसे उपकार हो सकेगा तो मैं

अपने परिश्रमको सफल समझूंगा और भविष्यमें इस प्रकारकी आपकी सेवा करनेके लिये उत्साहित हो सकूंगा। भूल चूकके लिये विज्ञ जन क्षमा करेंगे।

वेदान्त शास्त्रके अध्ययनसे जो कुछ भी मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ है उसके विकशित पुष्पकी श्रद्धांजलि सर्वशक्तिमान् जगदाधार श्रीकृष्ण भगवानके चरणकमलमें सादर समर्पित करता हूं क्योंकिः—

"यत्करोपि यदश्नासि, यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

यह भगवानका आदेश है। सूरजमल [illegible]

विषय-सूची

शुद्धाशुद्ध पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	१७	असक्य	अशक्य
४	२२	साधनोंका	साधनोंको
४	१५	पट	घट्
७	१	कर्मोंक	कर्मोंके
७	६	अथन्	अर्थात्
१०	४	निध्यासन	निदिध्यासन
११	३	अपने	अपनी
११	१८	विवेका	विवेकी
१२	३	ओर	और
१३	६	मुमुक्षना	मुमुक्षुता
१४	२२	इन्द्रिओंसे	इन्द्रियोंसे
१५	१५	"	"
१६	२	शाति:	शान्तिः
१६	११	प्रयाजन	प्रयोजन
२२	१२	कृच्छ	कृच्छ्र
२७	२१	सयोग	संयोग
२८	१३	निदिध्यासिव्यः	निदिध्यासितव्यः
३१	२	दुख	दुःख

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२	१४	ओर	और
३२	१७	तिर्यक्	तिर्य्यक्
३२	२२	आ	और
४५	१	पूत्र	पूर्व
४७	८	रूपा	रूप
५१	७	निषिध	निषिद्ध
५३	४	भगवनने	भगवानने
५३	६	अधिकार	अधिकारी
६८	१२	ग्रह्म	ब्रह्म
७१	१८	विरवयव	निरवयव
८४	१०	करणत्त्व	कारणत्त्व
९२	१	निममे	निर्ममे
१०५	१३	भुं वन	भुवन
१०७	१७	औ	और
११०	३	निवयव	निरवयव
११२	१	परिमाणु	परमाणु
११६	६	प्रतिविम्बि	प्रतिबिम्ब
१२१	१५	(आवृत) हो	(आवृत हो)
१२२	२०	मा	ममा
	२०	चदाभास	चिदाभास
	५	चिदाभास	चिदाभास

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३५	१	अभास	आभास
१३५	१८	विशेषके	विशेष्यके
१३८	१२	अधिष्ठान	अधिष्ठान
१३९	१६	कटस्थ	कूटस्थ
१४०	१३	भान्ति	भ्रान्ति
१६२	१	ह	है
१६५	१७	श्रतिका	श्रुतिका
१६६	२०	दुख	दुःखी
१६७	१५	दःखा	दुःखी
१६९	६	असम्भव	असम्भव
१७०	१५	निवृत्ति	निवृत्ति
१८७	१५	वृति	वृत्ति
१९१	१०	सुदा	शुद्ध
१९९	२१	यक्त	युक्त
२००	३	शरार	शरीर
२००	४	सामान	समान
२०३	२	वासन्नामय	वासनामय
२०५	४	स्वप्नवस्था	स्वप्नावस्था
२०५	१५	सूक्ष्म	सूक्ष्म
२०७	८	विराटका	विराट्का
२०७	२२	पुरुषोंके	पुरुषोंके

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६२	७	क्षत्पिपासावान्	क्षुत्पिपासावान्
२६२	११	सुषप्ति	सुषुप्ति
२६४	१	होता है	होती है
२६४	५	अरस्थामें	अवस्थामें
२६६	५	निर्गुणंश्च	निर्गुणश्च
२६६	९	अहंर्	अहम्
२६७	१७	चक्षू	चक्षु
२६८	१	ब्रह्मास्म	ब्रह्मास्मि
२७०	१	अपाधिना	अयाधिना
२७२	७	धूमवान्	धूमवान

True Copy

THE BENARES HINDU UNIVERSITY.

CENTRAL HINDU COLLEGE. Dated Benares 18—1—1939

I have seen some of the pages of "ज्ञानरत्नाकर" The work is a well reasoned presentation of the principles of Shankara Vedanta. I recommend it to all those who feel interested in the logic of the different schools of this great branch of Indian Philosophy.

Acharya Dhruva
Principal &
Pro-Vice-Chancellor,
Hindu University
Benares.

"ज्ञानरत्नाकर" नामकमद्वैतसिद्धान्तविषयकग्रन्थं सम्यक्-परीक्ष्य नितरां प्रमोदमनुभवामि । ग्रन्थेऽस्मिन् विद्वज्जनमनः-मोदयन्नः शास्त्रीयन्यायैः सिद्धान्तं सिद्धान्तमुपस्थापितवानिति ।

महामहोपाध्याय श्री फणिभूषण तर्कवागीश
न्यायादि दर्शनाध्यापकः
प्रिंसिपल संस्कृत कालेज
२३-१-३९

तत्वमें किसी प्रकारके अज्ञानका सम्पर्क नहीं है अर्थात् अवच्छेदवाद, आभासवाद, प्रतिबिम्बवाद, अनिर्वचनीयवाद इन चारोंमेंसे किसीका वास्तवमें अणुमात्रसे भी जिस तत्वमें सम्बन्ध नहीं है जो तत्व ज्ञान रूप और मोक्ष स्वरूप है उस तत्त्वको मैं नमस्कार करता हूं।

ग्रन्थके प्रारम्भमें अनुबन्ध दिखाये जाते हैं। इस नियमके अनुसार मैं भी प्रथम अनुबन्धचतुष्टयका ही निरूपण करता हूं। अधिकारी, सम्बन्ध, विषय, प्रयोजन यह अनुबन्ध-चतुष्टय (अनुबन्धके चार भेद) कहे जाते हैं। अर्थात् (१) इस शास्त्रका किन लक्षणोंसे युक्त पुरुष अधिकारी है! (२) इस शास्त्रमें जिस वस्तुका प्रतिपादन है उस वस्तुसे इस शास्त्रका क्या सम्बन्ध है! (३) तथा इस शास्त्रका क्या प्रतिपाद्य विषय है! (४) इस शास्त्रका क्या प्रयोजन है! इस प्रकार अनुबन्ध-चतुष्टयके ज्ञान होजानेपर जिज्ञासुकी किसी भी शास्त्रमें प्रवृत्ति देखी जाती है अतः प्रथम इसीका विचार करना समुचित है।

अधिकारी

जिस पुरुषने जन्म जन्मान्तरोंमें अनेक निष्काम कर्म द्वारा सगुण अथवा निर्गुण ब्रह्मकी उपासना करके अपने अन्तःकरणके मल और विक्षेप दोषोंको निवृत्त कर दिया है और जिसके अन्तःकरणमें केवल आवरण दोष रह गया है जिससे सत्, चित्, आनन्द, असङ्ग, कूटस्थ, विभु जो अपना स्वरूप है उस वास्तव स्वरूपको अन्तःकरणकी वृत्ति विषय नहीं करती है अर्थात् आत्माके उस स्वरूपका ज्ञान नहीं होता है, वैसा आवरण दोषयुक्त और साधन-चतुष्टयसम्पन्न जो पुरुष है वही अध्यात्म-विद्या या ब्रह्म-विद्याका अधिकारी है।

सम्बन्ध

इस शास्त्रमें जिस वस्तुका प्रतिपादन किया गया है वह तो इस शास्त्रका प्रतिपाद्य है और शास्त्र उसका प्रतिपादक है इस तरह शास्त्र और उसके विषयका प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है।

विषय

जीव और ब्रह्मकी एकता इस शास्त्रका विषय है।

प्रयोजन

अविद्या सहित प्रपञ्चकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति ही इस शास्त्रका प्रयोजन है।

अब प्रसङ्गवशात् साधन-चतुष्टय (चार प्रकारके साधन) का निरूपण करते हैं। विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता इन चारोंको ब्रह्मविद्याका साधन-चतुष्टय कहते हैं।

विवेक

आत्मा अविनाशी, अचल और व्यापक है तथा इतर पदार्थ विनाशी, चल और परिछिन्न हैं।" इस प्रकारके ज्ञानको विवेक कहते हैं।

शंका—जिस पुरुषको, आत्मा अविनाशी, अचल, विभु और उससे भिन्न सब पदार्थ नाशवान, चल और परिछिन्न हैं इस तरहका ज्ञान हो चुका है उसको इस शास्त्रमें प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि आत्माको अविनाशी आदि सिद्ध करना ही वेदान्त शास्त्रका प्रयोजन है सो ता प्रथमसे ही सिद्ध है फिर कोई आगे प्रयोजन बाकी नहीं है और बिना प्रयोजनके मूर्खकी भी कहीं प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है इस लिये अधिकारीके लक्षणमें साधन-चतुष्टयका प्रथमसाधन विवेक नहीं घटता।

समाधान—यदि यह ज्ञान निश्चयात्मक हो तो अधिकारी न बन सके परन्तु वह 'विवेक' जो ब्रह्म मीमांसाके प्रथम ही सिद्ध है वह संशय, विपर्यय (भ्रम) से ग्रस्त होनेके कारण अधिकारीको "अहं ब्रह्मास्मि" ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान नहीं है इस तरह सामान्य रूपसे विवेक रहने पर भी विशेषरूपसे विवेक नहीं है इसलिये सामान्य रूपसे विवेक अधिकारीके लक्षणमें रह सकता है।

वैराग्य

इस लोकसे लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्तके जो विषय-भोग हैं उनके त्यागनेकी जो इच्छा है उसे वैराग्य कहते हैं।

शंका—इस लोकके और परलोकके जो विषय-भोग हैं उनमें जब मिथ्यात्वका निश्चय हो जाय तब ही उन विषयभोगोंसे विरक्तता हो सकती है सो मिथ्यात्व निश्चय वेदान्त शास्त्रके निरन्तर, दीर्घ कालतक, आदर पूर्वक अभ्यासके विना असम्भव है इस लिये वेदान्त शास्त्रके विचारके प्रथम मिथ्यात्व निश्चयसे उत्पन्न होनेवाला जो वैराग्य है वह अधिकारीके लक्षणमें कैसे रह सकता है ?

समाधान—यद्यपि मिथ्यात्व निश्चय वेदान्त शास्त्रके विना विचारसे असम्भव है, तथापि विषयोंमें दोषदृष्टि रूप जो वैराग्य है अर्थात् विषयोंमें बार बार दोषको देखनेसे जो घृणा दृष्टि होती है उसीको दोष दृष्टिरूप वैराग्य कहते हैं, वही वैराग्य अधिकारीके लक्षणमें विवक्षित है।

षट् सम्पत्ति

शम, दम, श्रद्धा, समाधान, तितिक्षा और उपरति इन छः साधनोंको षट् सम्पत्ति कहते हैं।

शम

मनको, विषय भोगोंसे जो रोकना है उसे शम कहते हैं।

दम

इन्द्रियोंको विषयोंसे जो रोकना है उसे दम कहते हैं।

श्रद्धा

श्रुति, स्मृति, पुराणोंमें तथा श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरुमें जो विश्वास है उसे श्रद्धा कहते हैं।

समाधान

मनके विक्षेपका जो अभाव है उसे समाधान कहते हैं।

उपरति

विषयोंमें ग्लानि तथा भोगकी जो अनिच्छा है उसे उपरति कहते हैं।

तितिक्षा

गर्मी, सर्दी, क्षुधा, तृषा इत्यादिको सहन करनेकी जो शक्ति है उसे तितिक्षा कहते हैं। इन पूर्वोक्त छः साधनोंके समुदायको षट सम्पत्ति नामका एक साधन कहते हैं।

मुमुक्षुता

सत्, चित्, आनन्द स्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति और अविद्यासहित-जगत्-की निवृत्तिकी जो इच्छा है उसे मुमुक्षुता कहते हैं।

इस साधन-चतुष्टयसे युक्त, मल और विक्षेप दोष रहित, एकमात्र आवरण दोष सहित जो पुरुष है वही ब्रह्मविद्या या वेदान्त शास्त्रका अधिकारी हो सकता है।

प्रश्न—जीवको श्रुति, स्मृति, पुराण तथा इतिहासोंमें नित्य,

आनन्दस्वरूप आत्मा नामसे प्रतिपादन किया है सो आत्मा रूप जीव तो सभीको नित्य प्राप्त ही है फिर उस स्वरूपकी प्राप्तिके लिये इस दुरधिगम वेदान्त शास्त्रमें किसीकी भी क्यों प्रवृत्ति होगी ? जो वस्तु प्रथमसे प्राप्त नहीं उसकी प्राप्ति की जा सकती है और जो पूर्वसे ही प्राप्त है उसकी प्राप्ति कैसे बन सकती है ?

समाधान—यद्यपि जीवको नित्य आनन्द स्वरूप प्राप्त ही है अप्राप्त नहीं है तथापि जैसे किसी पुरुषके गलेमें आभूषण वर्तमान है पर भ्रमसे उसे ज्ञान हो रहा है कि मेरे गलेका आभूषण खो गया है, अब वह उसके लिये महान् विकल हो रहा है पश्चात् किसी दूसरेसे जो उसके गलेका आभूषण देख रहा हो "तुम्हारे गलेमें ही आभूषण है" ऐसा कहा जाता है तब उस पुरुषको उस खोये हुए (अप्राप्त) आभूषणकी प्राप्ति होती है और वह कहने लगता है कि मेरा खोया हुआ आभूषण मिल गया। यद्यपि यह प्राप्तकीही प्राप्ति है, अप्राप्त कल्पित ही था, वैसे अनादि अनिर्वचनीय अविद्याके कल्पित तादात्म्य-सम्बन्धसे जीवका नित्य प्राप्त सत्, चित्, आनन्द-स्वरूप विस्मृत सा हो गया है तब वह जीव भ्रान्तिसे अर्थात् आत्मा, अनात्माके अविवेकसे अपनेको संसारी कर्ता भोक्ता दुःखी सुखी इत्यादि समझ रहा है और अनादिकालके अभ्याससे स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरोंको और इन शरीरोंके धर्मोंको अपनेमें आरोप-करके शरीरोंके जन्म, मरणोंको अपना ही जन्म, मरण और उनके सुख, दुःखोंको अपना ही सुख, दुःख आदि समझता हुआ महान् विकल होता है।

पश्चात् किसी पुण्य कर्म्मोंक परिपाकसे तथा ईश्वर या सद्गुरु-की कृपासे जब निरन्तर, दीर्घ काल तक आदरसे वेदान्त शास्त्रका श्रवण, मनन, निदिध्यासन करता है तब अपने वास्तव स्वरूप सत्, चित्, आनन्द, समस्त उपाधियोंसे अपरिछिन्न, अनन्त, चैतन्य, एक-रस, अद्वितीय, उदासीन, स्वप्रकाशस्वरूपका साक्षात्कार होता है। अथत् दृढ़ निश्चय करता है, ऐसा दृढ़ निश्चय करना हो साक्षात्कार है और वही अविद्याको निवृत्ति है। यद्यपि आवरण तथा विक्षेप शक्तिशालिनी अविद्याकी आवरण-शक्ति तो आत्म-स्वरूपके साक्षात्कार होनेपर निवृत्त हो जाती है किन्तु विक्षेप शक्ति जीवके प्रारब्ध कर्म्मोंके नाश होनेपर ही निवृत्त हो सकती है पहले, नहीं तथापि केवल बाधितानुवृत्ति की तरह विक्षेप-शक्ति रहती है। संसार तो व्यवहार दशामें जीवन्मुक्तको भी दीखता है किन्तु उनको उसका मिथ्या रूपसे सदैव निश्चय रहता है इसी बाधित (निश्चित-मिथ्या वस्तु) को प्रतीतिको बाधितानुवृत्ति कहते हैं। जैसे किसी पुरुषको नेत्र-दोषके कारण एक चन्द्रमामें दो चन्द्रमाका ज्ञान होने लगता है किन्तु उस समय यदि कोई उससे पूछे कि चन्द्र कितने हैं तो वह पुरुष एक ही चन्द्रमा है ऐसा ही उत्तर देता है क्योंकि उसको दो चन्द्रमा तो मिथ्या (दोषजन्य) ही दीख पड़ते हैं ऐसा निश्चय रहता है दो की प्रतीति-मात्र है, निश्चय तो एक ही चन्द्र का है। इस प्रकारकी बाधितानुवृत्तिकी तरह संसार दशाका व्यवहार भी जीवन्मुक्तको रहता है। वह व्यवहार भोगों-द्वारा प्रारब्ध कर्म्मोंके नाश हो जानेपर निवृत्त हो जाता है तब उन्हें विदेह मुक्ति

प्राप्त हो जाती है जो परब्रह्मका स्वरूप है। जीवन्मुक्त अवस्थामें किये गये कर्मोंसे उनका कोई भविष्यके लिये सञ्चित नहीं बनता है। यद्यपि दग्ध-बीजकी तरह उनके विधि, निषेध किसी भी कर्मोंमें सुख, दुःख उत्पन्न करानेकी शक्ति नहीं रहती है तो भी उनकी प्रवृत्ति शास्त्रानुकूल ही होती है। और सत्त्वगुणके आधिक्य होनेसे तथा रजो-गुण, तमो-गुणके लेशमात्र रहनेपर वैराग्य उत्पन्न होता है और वैराग्यके पूर्ण विकाश होनेपर जीवन्मुक्त-अवस्थाके विलक्षण सुखका अनुभव होता है, अतः राजस, तामस कार्य तो ज्ञानीके विनष्ट हो जाते हैं। सांसारिक भी जो कार्य उनके द्वारा किये जाते हैं वे भी प्रायः सात्त्विक ही किये जाते हैं निषिद्ध नहीं, यदि कदाचित् उनसे निषिद्ध कार्य हो भी जाय तो उसे उनके पूर्व-जन्मका प्रारब्ध ही समझना चाहिये।

शंका—मोक्षके लक्षणके दोनों अंशोंमें परस्पर विरोध है क्योंकि जो परमानन्दकी प्राप्ति भावरूप है सो दुःख निवृत्तिस्वरूप अभाव कैसे हो सकता है! यदि परमानन्दकी प्राप्ति रूप मोक्षसे भिन्न अविद्याकी निवृत्ति हो तो "एकमेवाद्वितीयम्" इस अद्वैत-मतका व्याघात होगा और द्वैत-मतका स्थापन हो जायगा।

समाधान—कल्पित वस्तुकी निवृत्ति उस वस्तुके अधिष्ठान स्वरूप ही होता है अभाव रूप नहीं होता है। जैसे रज्जुमें कल्पित सर्पकी निवृत्ति उस सर्पका अधिष्ठान जो रज्जु है तत्स्वरूप ही है रूप नहीं, वैसेही कल्पित अविद्या-सहित दुःखोंकी निवृत्ति अविद्या-सहित दुःखोंका अधिष्ठान जो परमानन्दस्वरूप

है उससे भिन्न नहीं है सत्स्वरूप है अतः मोक्षके लक्षणमें भाव और अभावके विरोधका प्रश्न नहीं उठ सकता है।

वास्तवमें, परमार्थ दशामें तो बंध, मोक्ष, अविद्या और अविद्याकी निवृत्ति आदि कोई पदार्थ भी आत्मासे भिन्न नहीं हैं, बन्ध, मोक्ष आदि सब कल्पित हैं प्रतीत मात्र हैं। जैसे अविद्यासे कर्णमें हीन जातिके सम्बन्धसे राधेयत्व अर्थात् राधाके पुत्रकी प्रतीति मात्र थी जब एकान्तमें सूर्य भगवान और कुन्तीने कहा कि तुम राधाके पुत्र नहीं मेरे पुत्र हो" यह सुनकर अपनी हीन जातिको छोड़कर क्षत्रिय जातिका अभिमान करता हुआ उत्कर्षको प्राप्त करता है उसी प्रकार कल्पित अविद्याके सम्बन्धसे अपनेमें जीवत्व आदिकी प्रतीति होती है जब किसी सद्गुरुसे "तत्त्वमसि" आदि महावाक्योंको सुनकर अपने निकृष्ट जीवत्वको छोड़कर अपने ब्रह्मरूपका अपरोक्ष (साक्षात्कार) करके उत्कर्षको प्राप्त करता है और कृतकृत्य होता है।

वैराग्य, तत्त्वबोध, उपरति, इन पदार्थोंके हेतु क्या हैं! स्वरूप क्या हैं! और इनसे क्या कार्य होते हैं! अर्थात् इनमें परस्पर सम्बन्ध क्या है! ये साथ ही रहते हैं! या इनका परस्पर वियोग भी होता है!

वैराग्यका हेतु

विषयोंमें दोष देखना वैराग्यका हेतु है अर्थात् विषयोंमें बार बार दोष देखनेसे वैराग्य उत्पन्न होता है।

वैराग्यका स्वरूप

विषयोंके त्याग करनेकी जो इच्छा है वही वैराग्यका स्वरूप है अर्थात् उस इच्छाको ही वैराग्य कहते हैं।

वैराग्यका कार्य

विषयोंमें दीनता नहीं हो यह वैराग्यका कार्य है।

तत्त्वबोधका हेतु

वेदान्त शास्त्रके श्रवण, मनन, निध्यासन यह तीन तत्त्वबोधके हेतु हैं अर्थात् इन तीनोंका यथावत् परिशीलन करनेसे तत्त्वबोध होता है।

तत्त्वबोधका स्वरूप

सत्य और मिथ्या पदार्थके विवेकका ही तत्त्वबोध कहते हैं अर्थात् ब्रह्म सत्य है उससे भिन्न सारा ब्रह्माण्ड जगत् मिथ्या है ऐसा जो दृढ़ निश्चय उसीको तत्त्वबोध कहते हैं।

तत्त्वबोधका कार्य

तत्त्वबोध होनेसे अन्योन्य अध्यासरूप भ्रान्तिकी जो निवृत्ति हो जाती है वह तत्त्वबोधका कार्य है जो भ्रान्ति सारे अनर्थका कारण है।

उपरतिका हेतु

यम, नियम आदि जो योगाभ्यासकी प्रक्रिया है वह उपरामका हेतु है अर्थात् यम, नियम आदि साधनके होनेसे उपरति होती है।

उपरतिका स्वरूप

चित्तकी वृत्तिका जो रोकना है वही उपरतिका स्वरूप है अर्थात् विषयोंसे समस्त चित्तवृत्तिको रोककर रखनेको उपरति कहते हैं।

उपरतिका कार्य

व्यवहारके भली प्रकार विनाशका उपरतिका कार्य कहते हैं अर्थात्

उपरति होनेसे सांसारिक व्यवहार कुछ भी नहीं किया जाता है।'

ब्रह्मलोकको भी तृणके समान समझना यह वैराग्यकी अवधि है, तथा अपने आत्माके समान दूसरोंकी आत्माको समझनेकी दृढ़ता हो जाय तो तत्त्वबोधकी अवधि हो जाती है। निद्राके समान जब विषयोंकी विस्मृति हो जाय अर्थात् निद्रा-अवस्थामें, जैसे विषयोंका अभाव रहता है वैसा ही जब जाग्रत्-अवस्थाके भी विषयोंका अभाव हो जाय अर्थात् किसी भी विषयोंका स्मरण न करे तब उपरामकी अवधि होती है। इस प्रकार वैराग्य, तत्त्वबोध तथा उपरति इन तीनोंमें न्यूनाधिक्य है, और ये कहीं २ साथ भी रहते हैं कहीं विमुक्त भी रहते हैं, उत्तम-तपस्याका फल है कि ये तीनों परिपक्व होकर साथ रहें। इस प्रकार इस अध्यात्म-शास्त्रके अनुबन्ध-चतुष्टय और साधन चतुष्टयका निरूपण स्वरूप प्रथमरत्नोद्गम हुआ। * * *

अधिकारीका खण्डन

पूर्वोक्त अनुबन्ध चतुष्टयमें की गई फिरभी पूर्वपक्षीकी सविस्तर शंकाओंका निराकरण करते हैं।

शंका—मुमुक्षुताका लक्षण—जो "अविद्या-सहित प्रपञ्च (जगत्) की निवृत्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिकी इच्छा" है। उसका प्रथम अंश अधिकारीमें सर्वथा असम्भव है क्योंकि कोई भी विवेकी पुरुष यह नहीं चाहता है कि यह सुख-जनक, धन, जन-सम्पन्न जगत् का विनाश हो क्योंकि उसमें चित्तकी स्वाभाविक अनुकूल वृत्ति रहती है वर्ना सब लोगोंकी यही अभिलाषा होती है कि मेरे एक भी दुःख किसी समय न रहे क्योंकि दुःखोंमें चित्तकी स्वाभाविक प्रतिकूल-वृत्ति

रहती है अतः जिज्ञासुको जगत्का विनाश अभिलषित नहीं है किन्तु समस्त दुःखोंकी निवृत्ति ही अभिलषित है। वह दुःख आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेदसे तीन प्रकारके हैं।

आध्यात्मिक दुःख

इस जीवात्मामें अपने आप जो दुःख हों किसी दूसरोंके द्वारा न हों उसे आध्यात्मिक दुःख कहते हैं वह दो प्रकारके होते हैं (१) वाह्य, (२) आन्तर। कफ, पित्त, वायु जो शरीरके धातु हैं उनके वैषम्यसे जो ज्वरादि रोग (व्याधि) उत्पन्न होते हैं वह वाह्य दुःख है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, इच्छा, द्वेष, किसी अभिलषित विषयकी अप्राप्तिसे उत्पन्न चिन्ता इत्यादि जो केवल मनके धर्म्म हैं उनसे जो दुःख उत्पन्न होते हैं वह आन्तर (आधि) दुःख है।

आधिभौतिक दुःख

सिंह, सर्प, पशु, पक्षी, आदि किसी भूतों (प्राणियों) के द्वारा जो दुःख उत्पन्न हों उसे आधिभौतिक दुःख कहते हैं।

आधिदैविक दुःख

भूत, प्रेत, वज्रपात, वर्षा, शीत, आतप, इत्यादि देवोंके द्वारा जो दुख हों उसे आधिदैविक दुःख कहते हैं। उपर्युक्त तीन प्रकारके दुःखोंकी निवृत्ति ही पुरुषार्थ (पुरुषोंका वाञ्छित) है। अतः मुमुक्षुता-का प्रथम अंश अधिकारीमें नहीं रह सकता है, और यह कहना कि विना अविद्या-सहित जगत्के विनाशसे इन त्रिविध दुःखोंकी निवृत्ति नहीं हो सकती, अतः जगत्की निवृत्ति वाञ्छित है, ठीक नहीं होगा क्योंकि आयुर्वेद शास्त्रके अनुसार आहार-विहार रखनेसे वाह्य

आध्यात्मिक दुःख, तथा सत्-शास्त्रोंके मननसे और स्रक् (माला) चन्दन, वनिता (स्त्री) आदि सुखजनक विषयोंके प्राप्त होनेसे आन्तर आध्यात्मिक दुःख विनष्ट हो सकते हैं। उसी प्रकार नीति शास्त्रके अनुसार रहन सहनसे आधिभौतिक दुःख और मन्त्र शास्त्रके पूर्ण-तया ज्ञानसे और उसके उपयोगसे आधिदैविक दुःख विनष्ट हो सकते हैं। इसी प्रकार मुमुक्षुताका द्वितीय अंश जो "परमानन्द (ब्रह्म स्वरूप) की प्राप्तिकी इच्छा" है यह भी अधिकारीमें संभव नहीं है क्योंकि पहले जिस वस्तुका ज्ञान रहता है उसी वस्तुके प्राप्त करनेकी इच्छा होती है देशान्तरमें विद्यमान अपने जो अनुभूत (ज्ञात) नहीं है ऐसे वस्तुओंके पानेकी इच्छा किसीकी भी नहीं होती है।

इसलिए ब्रह्म ज्ञात नहीं होनेके कारण उसके प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं हो सकती है और जिस पुरुषको ब्रह्म ज्ञात है वह मुक्त ही है वह तो सुतरां मोक्षका अधिकारी नहीं बन सकता है। अज्ञात ब्रह्मके प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं होनेके कारण "अविद्या सहित प्रपञ्च (जगत्) की निवृत्ति तथा परमानन्द प्राप्ति रूप" जो मोक्ष है ऐसे मोक्षको कोई नहीं चाहता है इस प्रकार मोक्षका अधिकारी असंभव है और अधिकारी नहीं मिलनेसे मोक्षके लिए जो शास्त्र बनाए गये हैं वह शास्त्र व्यर्थ है।

विषयका खण्डन

जीव ब्रह्मकी एकता ही इस शास्त्रका विषय है' यह सर्वथा असंभव है क्योंकि जीव तो सुख, दुःखका भोक्ता, राग-द्वेषयुक्त परिच्छिन्न, (एक देशी) नाना (अनेक) है उससे ठीक विरुद्ध

स्वभाव ब्रह्मका है अर्थात् ब्रह्म सुख दुःखका अभोक्ता, राग, द्वेष रहित अपरिच्छिन्न (व्यापक) एक है। इसलिए इन दोनोंको अन्धकार, प्रकाशकी तरह परस्पर अत्यन्त विरोध रहनेके कारण एकता असंभव है। प्राणिमात्रके शरीरोंमें जीव एक ही है ऐसा कहें तो एकके सुखी होनेसे प्राणिमात्रको सुखी होना चाहिये, या एकके दुःखी होनेसे सबको दुःखी होना चाहिये, यह अलग २ सुख दुःखकी वर्त्तमान व्यवस्था संसारमें नहीं रहनी चाहिये, और यदि यह कहा जाय कि सुख दुःख आदि अन्तःकरणके धर्म हैं सो तो अनेक हैं इसलिए संसारमें कोई सुखी और कोई दुःखी रहता है और उन अन्तःकरणों-का साक्षी (प्रकाशक) एक ही है उस "एक साक्षीका एक ब्रह्मसे एकता हो सकती है" यह भी असंगत है क्योंकि इस शरीरमें जीवसे भिन्न, अन्य कोई साक्षी उपलब्ध नहीं होता है अतः साक्षीका मानना वन्ध्या-पुत्रका मानना है। यदि जीवसे भिन्न शरीरमें कोई साक्षी भी है ऐसा मान लें तो भी प्रत्येक शरीरमें जीवकी तरह अलग २ एक २ साक्षी मानना पड़ेगा अन्यथा सब शरीरोंमें एक ही साक्षी मान लेनेसे किसी एक जीवके सुखके ज्ञानके समय सब जीवको सुखका ज्ञान होना चाहिये या किसीके दुःखके ज्ञानके समय सबको दुःखका ज्ञान होना चाहिये क्योंकि सुख दुःख आदि जो आन्तर धर्म हैं उनका ज्ञान दूसरी किसी इन्द्रियोंसे नहीं हो सकता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पांच विषयोंके अनुभवरूप (प्रत्यक्ष) ज्ञान क्रमसे श्रोत्र, (कर्ण) त्वचा, नेत्र, रसना (जिह्वा) और घ्राण (नाक) इन पांच इन्द्रियोंसे होते हैं। सुख, दुःख इच्छा,

द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, संस्कार इन आन्तर धर्मोंके प्रत्यक्ष रूप (अनुभव रूप) ज्ञान उपर्युक्त पंच इन्द्रियोंसे नहीं होते हैं और अन्तःकरणके द्वारा भी सुख दुःख आदिओंका प्रत्यक्ष (अनुभवात्मक ज्ञान) नहीं हो सकता, क्योंकि अन्तःकरण तो उपर्युक्त सुख, दुःख आदि आन्तर धर्मोंका आश्रय है अर्थात् उक्त आन्तर धर्म उसमें आश्रित हैं क्योंकि अन्तःकरणमें ही सुख दुःख आदि उत्पन्न होते हैं यह वेदान्तका सिद्धान्त है, आश्रित होनेके कारण सुख दुःख आदि अन्तःकरणके अत्यन्त निकटवर्ती भी है। नियम यह है कि जो वस्तु जिन इन्द्रियोंमें आश्रित हो उन इन्द्रियों द्वारा उससे भिन्न वस्तुओंका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उनका नहीं, अतः सुख, दुःख, आदि अन्तःकरणमें आश्रित होनेके कारण अन्तःकरणके द्वारा सुख दुःख आदिका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है जैसे नेत्रके आश्रित या अत्यन्त समीपवर्ती अंजनका उस नेत्रके द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता है। किसी भी इन्द्रियों द्वारा अपने स्वरूपका तथा अपने आश्रित धर्मोंका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है इस नियमके अनुसार यह अंगीकार करना पड़ेगा कि सुख दुःख आदिका जो जीवमात्रको प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है वह ज्ञान एकमात्र साक्षीके द्वारा ही हो सकता है वह साक्षी यदि सब शरीरों में एक ही रहे तो सब शरीरोंके सुख दुःख आदिका भान (ज्ञान) प्रत्येक जीवको होना चाहिये क्योंकि सब शरीरोंका साक्षी एक ही है उसीके द्वारा समस्त शरीरोंके सुख, दुःखका ज्ञान हो सकते हैं सो तो यह भी अनुभव विरुद्ध है, इसलिये सुख, दुःख आदि आन्तर धर्मोंके प्रकाशक साक्षी प्रत्येक अलग अलग शरीरमें प्रत्येक

अलग अलग मानने पड़ेंगे। तब तो "भक्षितेऽपि लशुने न व्याधि शान्तिः"

इस लोकोक्तिके अनुसार जीवसे भिन्न साक्षी माननेपर भी ब्रह्मके साथ साक्षीको एकता नहीं हो सकती है क्योंकि ब्रह्म एक हैं और साक्षी अनेक मानने पड़ेंगे तब परस्पर विरुद्ध होनेके कारण इन दोनोंकी एकता सर्वथा असम्भव है इस प्रकार मोक्षके प्रतिपादक शास्त्रके विषयका खण्डन हो जानेसे इसग्रन्थ की तरह अन्य भी मोक्ष-प्रतिपादक वेदान्त ग्रन्थ व्यर्थ हैं।

प्रयोजनका खण्डन

"अविद्या (अज्ञान) सहित समस्त प्रपञ्च (जगत्) की निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति ही इस शास्त्रका प्रयोजन है" यह भी सर्वथा असम्भव है किसी शास्त्रके अध्ययनसे जो ज्ञान होगा उस ज्ञानसे कल्पित (मिथ्या) वस्तुकी हो निवृत्ति (विनाश) हो सकेगा सत् (यथार्थ) वस्तुको निवृत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि किसी भी ज्ञानसे कल्पित (भ्रान्त) वस्तुका हो विनाश देखा जाता है। अकल्पित (सत् वस्तु) का विनाश किसी ज्ञानसे नहीं देखा जाता है जैसे—रज्जु (रस्सी) के ज्ञानसे उस रज्जुमें हो जो कल्पित सर्प है उसीकी निवृत्ति होती है किन्तु रज्जुके ज्ञानसे यथार्थ सर्पका विनाश (निवृत्ति) नहीं होता है, अतः प्रथम यह सिद्ध करना होगा कि यह दृश्यमान अनन्त प्रकारके समस्त प्रपञ्च (जगत्) कल्पित हैं सत्य नहीं हैं तब ब्रह्मज्ञानसे इनको निवृत्ति हो सकती है, सो तो यह जगत् सबको सत्य रूपसे दीख रहा है और उपनिषत्

जैसे—अपौरुषेय (अनादि) शास्त्रोंमें इस जगत्‌की उत्पत्ति कही गई है। जैसे—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्यादि श्रुति हैं, तथा इस जगत्‌से अनुकूल क्रियात्मक सृष्टि होती दिखाई दे रही है, रज्जुमें जो कल्पित सर्प दीखता है वह सर्प किसीको नहीं डस सकता है, स्वप्नमें जो कल्पित वस्तु दिखाई पड़ती हैं उससे कुछ कार्य नहीं होता है और जगत्‌के यथार्थ सर्प लोगोंको डसते दिखाई पड़ते हैं।

इस प्रकार जाग्रत् अवस्थामें जो यथार्थ वस्तु देखी जाती है उससे कुछ कार्य अवश्य होते हैं, अतः रज्जु-सर्प और स्वप्नकी वस्तुसे विलक्षण होनेके कारण यह कार्य सम्पादक जगत् कल्पित (मिथ्या) नहीं हो सकता है। किन्तु यथार्थ (सत्य) ही हो सकता है। किसी भी वस्तुको कल्पित सिद्ध करनेको जो सामग्री (कारण समुदाय) होती है वह इस जगत्‌में नहीं है। वह सामग्री पांच तरहकी होती है।

१—सत्य वस्तुके ज्ञान जन्य संस्कार=अर्थात् जो वस्तु कहीं भी सत् (यथार्थ) रहे और उस वस्तुका यथार्थ ज्ञान पहले हो चुका हो तब उस यथार्थ ज्ञानसे उत्पन्न संस्कार, अन्तःकरणमें रहनेके कारण उसी वस्तुका कभी कल्पित (भ्रम) ज्ञान उस वस्तुके नहीं रहने पर भी हो जाता है।

२—प्रमातृदोष—अर्थात् प्रमाता (अन्तःकरण) में भय लोभ आदि दोष हों।

३—प्रमेयदोषः—प्रमेयमें सादृश्यदोष हो अर्थात् जिस वस्तुका अध्यास (भ्रम) जिस प्रदेशमें होता है उस प्रदेश (अधिष्ठान) में उस वस्तुका सादृश्य रहना चाहिये।

४—प्रमाणदोष—अर्थात् नेत्रमें मन्दत्व, कमल आदि दोष हो।

५—अधिष्ठानका सामान्यरूपसे ज्ञान और विशेष रूपसे अज्ञान रहे। यह पांच प्रकारकी सामग्री अध्यासकी होती है। जैसे-रज्जुमें जो सर्पका भ्रम होता है उस भ्रम होनेके पहले उस सर्पका यथार्थ ज्ञान रहता है। अन्तःकरणमें भय दोष है। उस सर्पका सादृश्य दीर्घत्व आदि रज्जुमें है। नेत्रमें मन्दत्व (मन्दपना) दोष है। तथा सामान्यरूपसे अर्थात् इदं अंशसे रज्जुरूप अधिष्ठानका ज्ञान है। रज्जुत्वरूप विशेष अंशसे रज्जुका अज्ञान है। इस प्रकारकी अध्यासकी पांच सामग्री रहनेसे रज्जुमें सर्पका अध्यास (भ्रम) होता है। सामग्री (कारण-समुदाय) में कार्य—उत्पादन करनेकी शक्ति होती है, सामग्रीकी एक चीजकी भी कमी हो जाय तो कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है। जैसे-कुलाल (कुम्हार) दण्ड, चक्र, चीवर, (सूत) मृत्तिका इन सब चीजोंके द्वारा घट (घड़ा) बनता है, यदि इनमेंसे एक भी वस्तु न रहे तो घड़ा नहीं बन सकता।

यहां प्रस्तुत विषयमें अर्थात् जगत्को कल्पित सिद्ध करनेमें एक भी सामग्री नहीं देखी जाती है, क्योंकि अध्यास होनेके पहले यदि यह जगत् यथार्थ (सत्य) रहता और उसका यथार्थ ज्ञान रहता तो उस जगत्का अध्यास (भ्रम) हो सकता सो तो किसी कालमें भी जगत् सत्य नहीं है स्वरूपसे ही मिथ्या है। यदि इसे सत्य मानोगे तो "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि श्रुतिसे विरोध होगा। इस रीतिसे इस प्रपञ्च (जगत्) के अध्यास होनेकी सामग्रीका प्रथम अंश संस्कार भी नहीं रह सकता है। इस प्रपञ्चका अधिष्ठान जो ब्रह्म है,

उस ब्रह्ममें प्रपञ्चका,सादृश्य दोष भी नहीं है। क्योंकि प्रपञ्च बन्धनरूप, परार्धरूप, जड़स्वरूप है और ब्रह्म मोक्षरूप, प्रत्यक्रूप, प्रकाशस्वरूप है। इस प्रकारकी अत्यन्त विरुद्धस्वभावयुक्त वस्तुमें सादृश्यदोष कैसे रह सकता है! जैसे-सर्पके सादृश्य नहीं रहनेके कारण घड़ेमें सर्पका अध्यास कभी नहीं होता है। इस प्रकार अध्यासका सामग्रीका तृतीय अंश सादृश्य दोष भी असंभव है। द्वितीय अंश प्रमातृदोष भी नहीं रह सकता है, क्योंकि अध्यास होनेके पहले प्रमाता नहीं है, अर्थात् प्रमाता, आदि सब कार्य, कारण संघात अध्याससे ही बनते हैं यथार्थ नहीं हैं। तो अध्यासके पहले प्रमाताके स्वरूपके ही अभाव रहनेसे सुतरां प्रमातृदोष का अभाव है। इसी प्रकार चतुर्थ अंश प्रमाणदोष भी नहीं रह सकता है, क्योंकि अध्यास होनेके पहले प्रमाणका स्वरूप ही नहीं है। अध्यास होनेसे प्रमाण बनता है, अध्यासके पहले प्रमाणदोष असंभव ही है। ब्रह्मरूप अधिष्ठानका सामान्य रूपसे ज्ञान और विशेष रूपसे अज्ञान भी नहीं रह सकता है। क्योंकि ब्रह्म निर्विशेष है उसमें सामान्य-विशेषभाव नहीं है, समान्य-विशेषभाव माननेसे अद्वैत-मतका व्याघात हो जायगा। इस प्रकार अध्यासकी एक भी सामग्री नहीं रहनेके कारण अधिष्ठानरूप ब्रह्ममें प्रपञ्चका अध्यास (भ्रम) नहीं हो सकता है, अतः प्रपञ्च कल्पित नहीं है, किन्तु सत्‌रूप है, सत् उस यथार्थ प्रपञ्चकी निवृत्ति ज्ञानसे नहीं हो सकती है। केवल शास्त्रविहित कर्मोंके द्वारा इस बंधरूप प्रपञ्चकी निवृत्ति हो सकती है। वह कर्म दो प्रकारके होते हैं।

१—विहित २—निषिद्ध।

विहित

वर्णाश्रमके अनुसार या सामान्यरूपसे पुरुषोंकी प्रवृत्तिके लिए वेदमें जो कर्म कहे गये हैं उन्हें विहित कर्म कहते हैं।

निषिद्ध

वर्णाश्रमके अनुसार या सामान्यरूपसे पुरुषोंकी निवृत्तिके लिए वेदमें जो कर्म कहे गये हैं उन्हें निषिद्ध कर्म कहते हैं। जैसे "न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम्" अर्थात् स्त्री और शूद्र वेद न पढ़ें "मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि" अर्थात् किसी प्राणीकी हिंसा मत करो" इस प्रकार विशेष और सामान्य रुपसे निवृत्तिका उपदेश है।

विहित कर्मके चार भेद होते हैं। १—नित्य २—नैमित्तिक, ३—काम्य ४—प्रायश्चित्त।

नित्यकर्म

जिस कर्मके करनेसे कुछ धर्म न हो किन्तु नहीं करनेसे प्रत्यवाय (पाप) हो जाय और उस कर्मको नित्य करनेके लिए वेदमें कथन हो उसे नित्यकर्म कहते हैं।

जैसे—सन्ध्यावन्दन नित्यकर्म है क्योंकि सन्ध्यावन्दन करनेसे कुछ धर्म नहीं होता है किन्तु नहीं करनेसे पाप होता है जिसका फल दुःख जन्मान्तरमें भोगना पड़ता है, "अहरहः सन्ध्यामुपासीत" अर्थात् "रोज २ सन्ध्यावन्दन उसके अधिकारीको करना चाहिये" इस प्रकारका वेद सन्ध्या वन्दनको नित्य करनेके लिए उपदेश दे रहा है अतः सन्ध्योपासन नित्यकर्म है।

को करनेके लिए उपदेश नहीं दिया गया है। अज्ञानाद्वियुक्त पुरुष इस कर्मको करता है, किन्तु करनेवालेको हिंसाजन्य पाप अवश्य होता है जिससे जन्मान्तरमें उसको दुःख अवश्यमेव भोगना पड़ेगा इस प्रकारके कर्म निषिद्ध काम्यकर्म कहे गये हैं।

प्रायश्चित्त

प्रायश्चित्त कर्म दो प्रकारके होते हैं। (१) साधारण (२) असाधारण।

असाधारण-प्रायश्चित्त

अपने द्वारा किये गये निषिद्ध कर्म जो ज्ञात हों, उस अलग अलग निषिद्ध कर्मोंकी निवृत्तिके लिए अलग अलग जो कर्म शास्त्रमें कहे गये हैं, उन्हें असाधारण प्रायश्चित्त कहते हैं। जैसे-त्रिरात्रोपवास, कृच्छ, चान्द्रायण आदि असाधारण प्रायश्चित्त हैं।

साधारण-प्रायश्चित्त

जन्मान्तरमें या इस जन्ममें किये गये निषिद्ध कर्म जो अज्ञात हों उन सबोंकी निवृत्तिके लिये शास्त्रमें जो कर्म कहे गये हैं उन्हें साधारण प्रायश्चित्त कहते हैं। जैसे-गंगास्नान और ईश्वर भजन आदि कर्म हैं।

इस प्रकारके जो विहित कर्म हैं उनमेंसे मोक्षके जिज्ञासुको नित्य, नैमित्तिक और प्रायश्चित्त कर्म करना चाहिये क्योंकि मुमुक्षुको भावी लोक और उसके विषय-भोगोंकी इच्छा नहीं है,इसलिये काम्य कर्म न करे। नित्य, नैमित्तिक कर्म नहीं करनेसे पाप होगा और उसको भोगनेके लिए अनिष्ट लोककी प्राप्ति होगी, अतः ये दोनों कर्म मुमुक्षुके कर्त्तव्य हैं। प्रायश्चित्त कर्म भी मुमुक्षुका कर्त्तव्य है यदि किसी प्रमादवश

निषिद्ध कर्म किया जाय और वह ज्ञात हो तो उसकी निवृत्तिके लिए असाधारण-प्रायश्चित कर्म करना चाहिये और यदि कोई निषिद्धकर्म ज्ञात न हो तो भी साधारण-प्रायश्चित्त करना चाहिये, क्योंकि उससे जन्मान्तरके अज्ञात पाप निवृत्त हो जायंगे।

यद्यपि ईश्वर भजन तथा गंगास्नान इत्यादि कर्म काम्य कर्म भी हैं, क्योंकि इनसे उत्तम लोक आदि अभिलषित पदार्थकी प्राप्ति होती है, किन्तु निष्काम होकर करनेसे उत्तम लोक आदिकी प्राप्ति नहीं होती है, सो तो मुमुक्षुको वाञ्छित ही है। मुमुक्षु किसी भी उत्तम लोकमें जानेके लिये शरीरधारण करना नहीं चाहते हैं। और वर्तमान जन्ममें निषिद्ध या काम्यकर्म नहीं करते हैं। जिससे आगे उनको शरीरधारण करना पड़े। जन्मान्तरके जो संचित पाप हैं वह साधारण प्रायश्चित्त द्वारा नष्ट हो जायँगे। और जो इस जन्ममें प्रमादवश निषिद्ध (पाप) किये गये हैं वे असाधारण-प्रायश्चित्त द्वारा निवृत्त हो जायंगे, और जो जन्मान्तरके संचित काम्य कर्म हैं, भोगकी इच्छाके अभावसे उन संचित काम्यकर्मोंका फल नहीं होगा। जैसे-किसी धनी पुरुषकी आराधना कोई धनके लिये करता है, आराधनाकरनेपरभी यदि उसकी इच्छा निवृत्त हो जाय तो धनकी प्राप्तिरूप फल उसे नहीं होता है। इस प्रकार मुमुक्षुको पूर्वोक्त रीतिसे कर्म करनेसे प्रारब्ध कर्म-रचित इस शरीरके अनन्तर (बाद) ही मोक्ष मिल जाता है। और संसाररूप बन्धकी निवृत्ति हो जाती है, इसलिए मुमुक्षुको शास्त्र-विहित कर्म उक्त रीतिसे करना चाहिये, इस प्रकार ज्ञान-द्वारा बन्ध-निवृत्तिरूप इस शास्त्रका प्रयोजन असंभव है।

सम्बन्धका खण्डन

पूर्वोक्त रीतिसे इस दर्शन शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय जो जीव,ब्रह्मकी एकता है यह जब असंभव हो जाती है तब उस विषयके साथ इस शास्त्रका जो प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव संबन्ध है अर्थात् विषय तो शास्त्रका प्रतिपाद्य है और शास्त्र उसका प्रतिपादक है इस प्रकारका संबन्ध भी सुतरां असंभव हो जायगा।

इस शास्त्रके अधिकारी और शास्त्रके विचारका जो परस्पर कर्तृ-कर्त्तव्य भाव संबन्ध है अर्थात् अधिकारी तो विचारका कर्त्ता बनता है और विचार अधिकारीका कर्त्तव्य है यह संबन्ध भी स्थिर नहीं रह सकता, क्योंकि इस शास्त्रके अधिकारीका अभाव है जिसका सयुक्तिक प्रतिपादन पहले हो चुका है।

इस शास्त्रके साथ उसके अध्ययनजन्य-ज्ञानका जो परस्पर जन्य-जनकभाव संबन्ध स्वीकृत है अर्थात् यह शास्त्र ज्ञानका जनक (हेतु) है और शास्त्रके अध्ययन उत्पन्न होनेवाला ज्ञान जन्य (कार्य) है यह सम्बन्ध भी कैसे रह सकता है! क्योंकि जब शास्त्रसे जीव,ब्रह्मकी एकताका ज्ञानही नहीं हो सकता तो सम्बन्ध किसका होगा। इस प्रकार इस शास्त्रके अधिकारी, विषय, प्रयोजन, संबन्ध इस अनुबन्ध चतुष्टयके अभाव हो जानेसे इस ग्रंथका आरम्भ करना निष्फल (व्यर्थ) है। इस अभिप्रायके पूर्वपक्षीके आक्षेपों (प्रश्नों) का प्रतिक्षेप (समाधान) सिद्धान्ती अब क्रमसे करता है।

अधिकारीका मण्डन (सिद्धि)

पूर्व पक्षीका यह कहना कि कोई पुरुष "अविद्यासहित-प्रपञ्चकी

निवृत्ति नहीं चाहता है किन्तु आध्यात्मिक आदि त्रिविध दुःखोंकी निवृत्ति ही चाहता है जो लौकिक उपायोंसे हो सकती है"

यह युक्ति रहित हठ मात्र है, क्योंकि जबतक अविद्या-सहित प्रपञ्च (जगत्) की निवृत्ति (विनाश) नहीं होगी, तबतक उन आध्यात्मिक आदि सारे दुःखोंकी निवृत्ति सर्वथा असम्भव है। नियम करके किसी लौकिक या वैदिक साधनके द्वारा दुःखोंकी निवृत्ति नहीं हो सकती है।

रोगकी नियमतः लौकिक साधनों द्वारा निवृत्ति होती ही नहीं, एक बार किसी रोगकी निवृत्ति हो जानेपर भी फिर किसी समय उसी रोगकी उत्पत्ति होती देखी जाती है इस प्रकार दुःखोंकी ऐकान्तिक (नियमसे) और आत्यन्तिक (एक बार निवृत्त हो जाने-पर फिर न होना) निवृत्ति लौकिक या वैदिक उपायोंसे नहीं होती है और प्राणिमात्रको ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति अभिलषित है, इसलिए इन त्रिविध दुःखोंका कारण जो अविद्या सहित प्रपञ्च है उसकी निवृत्ति मुमुक्षुको अत्यन्त जरूरी है। किसी समय नारद-जीने सनत्कुमारसे पूछा कि "तरति शोकमात्मवित्" इस श्रुतिके अनुसार आत्मज्ञानी पुरुष शोकको तरते हैं, अर्थात् वे शोकके पार हो जाते हैं उन्हें शोकादि दुःख नहीं व्यापता है। मुझे शोक आदि दुःख होते हैं, इसलिए मैं अज्ञानी हूं, तब सनत्कुमारने कहा कि ब्रह्म भूमा (व्यापक) तथा शोक आदिसे रहित हैं तथा सुखरूप हैं। ब्रह्मसे भिन्न सकल पदार्थ मिथ्या तथा दुःखके साधन हैं इसलिए उस साधनकी निवृत्तिके बिना दुःखोंका नाश असम्भव है। इसलिए

अविद्या-सहित प्रपञ्चकी निवृत्तिरूप मोक्षकी इच्छा हो सकती है। और पूर्व पक्षीका यह भी कहना कि कभी "जिस वस्तुका अनुभव रहता है उसी वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा होती है" यह असङ्गत है क्योंकि यह नियम नहीं है कि अनुभूत वस्तुके ही पुनः प्राप्त करनेकी इच्छा हो किन्तु जिस वस्तुका कभी अनुभव हो चुका है और वह वस्तु अनुकूल भी हो उस अनुकूल वस्तुके सजातीय वस्तुयें भी (जो कभी अनुभूत भी नहीं हैं) पुरुषकी इच्छा होती है। जैसे—पुरुषको सुख-भोजनका अनुभव रहनेपर भी उसी भोजनकी इच्छा न होकर उसके सजातीय भोजन प्राप्त करनेकी भी इच्छा होती है। जैसे—लड्डू को खाकर उसके सजातीय और उससे उत्तम कई एक अन्य अननुभूत मिष्टान्न खानेकी इच्छा होती है। यदि अनुभूत वस्तु प्रतिकूल हो तो उसकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं होती है। जैसे—रोगके अनुभव होनेपर भी किसीको भी रोगकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं होती है। सांसारिक सुखका सब पुरुषको अनुभव है, वह अत्यन्त अनुकूल भी है और "ब्रह्मनिरतिशय और अक्षय सुखस्वरूप है" ऐसा उपनिषद् आदि सत् शास्त्रोंमें सुना गया है, इसलिये उस अनुभूत लौकिक सुखके सजातीय और उससे कहीं उत्तम सुखरूप ब्रह्मकी प्राप्तिकी इच्छा होती है, और जैसे—रज्जुमें कल्पित सर्पको देखकर सर्प समझनेसे भय आदि उत्पन्न हो जाते हैं, जब उसके अधिष्ठान रज्जुका ज्ञान हो जाता है और यथार्थ ज्ञान है, तब वहां सर्पकी और उससे उत्पन्न भय आदि कार्योंकी निवृत्ति हो जाती है। वैसे ही इस सर्पका आत्मका अधिष्ठान जो ब्रह्म है उस ब्रह्मके ज्ञानसे सबके साथ जगत्की निवृत्ति हो जाती

है, ऐसा अनुमान कर तथा सत्-शास्त्रके द्वारा निश्चय करके उस ब्रह्मके अपरोक्ष (साक्षात्कार) करनेकी इच्छा हो सकती है। इसलिये परमानन्दकी प्राप्तिकी इच्छा होती है। और पूर्वपक्षीका कहना कि विवेकी पुरुष केवल विषय सुखको चाहता है मोक्ष सुखको कोई चाहता नहीं, यह भी युक्तिरहित असंगत प्रलापमात्र है। क्योंकि सब पुरुष समस्त दुःखोंकी निवृत्ति और नित्य सुखकी प्राप्ति चाहते हैं सो मोक्ष प्राप्त होनेसे हो सकता है, वह प्रपञ्चमें नहीं है। तथा विवेकी पुरुष विषय सुखको ही चाहता है, यह भी सम्भव नहीं क्योंकि सुषुप्ति-अवस्थामें कोई भी विषय नहीं रहता है तब उस समय विषयके द्वारा उत्पन्न अर्थात् विषयके भोग करनेसे जो सुख होता है वह कदापि नहीं रह सकता है तो भी सब पुरुषोंको प्रति दिन सुषुप्तिकी इच्छा होती है, यदि विषय सुखकी ही सबको इच्छा होती तो विषय-रहित सुषुप्तिके सुखकी इच्छा नहीं होनी चाहिये, अतः पुरुषमात्र सुखको ही चाहता है फिर भी नित्य (हमेशः स्थिर) सुखको चाहता है यह निर्विवाद है। ऐसा सुख अविद्या-सहित प्रपञ्चकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति स्वरूप है। यह सुख ज्ञानसे ही प्राप्त हो सकता है। कर्म तथा उपासनासे नहीं हो सकता है, अतः उस ज्ञानके लिये वेदान्तशास्त्रकी रचना सफल है। वह ज्ञान वेदान्त शास्त्रके श्रवणसे उत्पन्न होता है। वह श्रवण भी दो प्रकारके हैं। एकतो वेदान्तके "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि अवान्तरवाक्य और "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्योंके साथ श्रोत्र इन्द्रियके संयोग होनेसे जो ज्ञान होता है वह है। और दूसरा श्रवण विचाररूप है। जिस जिज्ञासुको संशय अथवा विपरीत

(भ्रम) है, दूसरे विचारात्मक श्रवणके अभ्याससे उसकी विपरीत-भावनाकी निवृत्ति हो जाती है तब निश्चयात्मक ज्ञान होता है, इस प्रकार प्रमाणगत (शास्त्रके विषयमें उत्पन्न) संशय, तथा भ्रमका निराकरण प्रथम और द्वितीय श्रवणसे हो जाता है। सब उपनिषदोंका एक ब्रह्ममेंही तात्पर्य है अर्थात् सब उपनिषदोंने "एक ब्रह्म है" इस प्रकार अद्वैतमतका समर्थन किया है। जिस वस्तुका श्रवणके द्वारा निश्चय किया गया है उसी वस्तुके युक्ति-सहित चिन्तनको मनन कहते हैं। मनन करनेसे प्रमेयगत (अद्वैतब्रह्मकेविषयमें उत्पन्न) संशयका निराकरण होता है। जिस वस्तुका श्रवण और मननके द्वारा निश्चय हुआ है उसी वस्तुका प्रवाह रूपसे ध्यान करनेको निदिध्यासन कहते हैं। इस प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे साक्षात्कार रूप ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे—श्रुतिओंमें कहा गया है—"श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।" "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः" इत्यादि।

इसी साक्षात्कारको श्रीमद्भगवद्गीतामें "परागति" नामसे कहा है। जैसे—अनेकजन्मसंसिद्धस्ततोयातिपरांगतिम्" अर्थात् मनुष्य अनेक जन्मके श्रवण, मनन, निदिध्यासनके अभ्यास-परम्परासे विलक्षणअवस्थारुप सिद्धिको प्राप्त करके परागतिको प्राप्त करते हैं अर्थात् उस अद्वितीय आत्माका साक्षात्कार करते हैं।

इसलिए वेदान्त शास्त्रका आरम्भ करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि यह कहा जाय कि, विवेक, वैराग्य आदि साधन-सम्पन्न अधिकारी नहीं मिल सकता है, तब अधिकारीके नहीं मिलनेसे भी

दान्त शास्त्रका आरम्भ निष्फल ही है, यह भी असंगत है। क्योंकि
त अवधि-रहित, अत्यन्त विस्तृत-संसारमें अधिकारीका अभाव होना
संभव है। क्योंकि—जिस जिज्ञासुके अन्तःकरणके मल दोष तथा
क्षेप दोष इस जन्म या जन्मान्तरके निष्काम कर्मसे या सगुण
थवा निर्गुण-उपासनासे निवृत्त हो गये हैं, ऐसा जिज्ञासु इसका अधि
री हो सकता है। वह अधिकारी वेदान्त शास्त्रके द्वारा श्रवण,
र पुनः उसका मनन, निदिध्यासन करके अपने वास्तव सत्, चित्,
नन्दस्वरूपका साक्षात्कार करता है, और सर्वदाके लिए कृत कृत्य हो
ता है। जैसे—"न स पुनरावर्तते" "न स पुनरावर्तते" फिर
संसारमें नहीं आता है" फिर वह संसारमें नहीं आता है"
प्रकारकी आवृत्तिसे श्रुतिओंने जोर देकर कहा है।

इस प्रकार शास्त्रसे रहित नीच-जीवसे लेकर ऊंचसे ऊंचे ब्रह्मा
न्त जो शरीर धारी है वह संसारमें बार २ आते हैं और अपने
र्मानुसार दुःख, सुख भोगते रहते हैं। और यह भी कहा जाय कि
क पुरुष विषय-सुखको चाहता है, निम्य मोक्ष-सुखको चाहे
सा नहीं है, यह संभव नहीं हो सकता। क्योंकि—चार प्रकारके
र होते हैं। १—पामर २—विषयी ३—जिज्ञासु ४—मुक्त।

पामर

इस लोकके विहित या निषिद्ध विषय भोगोंमें आसक्त तथा
के संस्कारसे जो रहित हैं उन्हें पामर कहते हैं।

विषयी

शास्त्रके अनुसार विषयके भोग करते हुए इस लोक और परलोक

के भोगके लिए जो शास्त्रके अनुकूल कर्म "यज्ञादि" करते हैं उन्हें विषयी कहते हैं।

जिज्ञासु

उत्तम संस्कारके रहनेके कारण जो पुरुष नित्य सुख प्राप्त करनेके लिए सत् शास्त्रका श्रवण करता है उसे जिज्ञासु कहते हैं। जिज्ञासु मोक्षरूप नित्य सुखको चाहता है, विषय-सुख नित्यसुख नहीं है, क्षणिक है और दुःख-मिश्रित है।

क्योंकि विषय-सुख प्राप्त करनेमें पहले बड़ी तकलीफें उठानी पड़ती हैं। विषय सुखके समयमें भी कोई दुःख प्रायः रह जाता है। संसारी पुरुषको ऐसे सुखका अनुभव नहीं होता है, जिस सुखके अनुभव कालमें बाह्य या आन्तर एक भी दुःख मन्दरूपसे भी न रहे। और परिणाममें विनाशी है अर्थात् आखिर विषय सुखका नाश होना अवश्यंभावी है। उस समय दुःख होने लगता है अतः यह सुख भविष्यमें दुःखका हेतु है, और वर्त्तमान समयमें भी विषय सुखके विनाश हो जानेका भय लगा रहता है, इस प्रकार विषयके प्राप्त होनेसे जो सुख होता है वह दुःखसे ओत-प्रोत (सनाहुआ) है, इसलिये जिज्ञासुको मोक्ष-सुख ही अभिलषित है, जो समस्त दुःख-निवृत्तिस्वरूप है।

लौकिक या वैदिक उपायोंसे सारे दुःखोंकी निवृत्ति होना सर्वथा असंभव है। क्योंकि जबतक शरीर रहेगा तबतक कुछ न कुछ दुःख अवश्य रहेगा। शरीरोंके अभाव होनेसे ही समस्त दुःखोंकी निवृत्ति हो सकती है, शरीरका अभाव मोक्ष होनेसे ही होता है।

इसका रहस्य यह है कि जबतक शरीर रहते हैं तबतक पुण्य-पाप

रहते ही हैं। क्योंकि—पुण्य-पापसेही शरीर रचित है, और जबतक पुण्य-पाप रहेंगे तबतक सुख-दुःख अवश्य रहेंगे। पुण्यका फल सुख और पापका फल दुःख होता है। यदि यह कहें कि देव शरीर पुण्य-पापसे रचित नहीं है, एक मात्र पुण्यसे रचित है। उस शरीरमें दुःख नहीं होते हैं, अतः पुण्य कर्म करके देवताका शरीर प्राप्त करना अभिलषित है, यह बात भी असंगत है। क्योंकि—एक देवता अपनेसे ऊंची पदवीपर आरूढ़ दूसरे देवको देखकर दुःखी होता है। देव शरीरके सुखमें तारतम्य (न्यूनाधिक्य) रहता है और न्यूनाधिक्य रहनेसे दुःखका होना अनिवार्य है।

यदि यह कहा जाय, कि स्वर्गके सबसे ऊंचे स्थान, स्वर्गके राज्य-सिंहासनपर आरूढ़ देवराज, इन्द्रको दुःख नहीं हो सकते हैं, क्योंकि-उससे ऊंचा स्थान और स्वर्गमें दूसरा कोई है नहीं, जिसको पानेके लिये इन्द्र दुःखी होता, यह भी युक्ति रहित है। क्योंकि- इन्द्रको भी अनेक समय दैत्य और दानव आदिसे भय होनेके कारण दुःख होते रहते हैं, इस प्रकार देवताके शरीर भी पुण्य-पाप दोनोंसे रचित हैं। केवल पुण्यसे नहीं, पुण्यका अधिकतर हिस्सा रहता है और पाप अत्यल्प कम रहता है इसलिए उन्हें अधिक सुख होते रहते हैं, दुःख सुखकी अपेक्षा बहुत कम होते हैं।

श्रुतियोंमें देव शरीरको जो पाप-रहित होनेका कथन है उसका यह तात्पर्य है कि देव शरीरमें किये गये कर्मसे अदृष्ट (पुण्य-पाप) नहीं बनते हैं। देव शरीरके पूर्वके जो मनुष्य शरीर थे उन शरीरोंमें जो पुण्य-पाप किये गये थे, उन्हीं पुण्य-पापोंसे देव शरीर बने हैं, अब

देव शरीरके द्वारा विहित और निषिद्ध कर्म करनेपर भी पुण्य या पाप नहीं बन सकते हैं। ये शरीर केवल भोग करनेके लिए ही प्राप्त होते हैं, इनसे आगे भोगनेके लिए कुछ अदृष्ट नहीं बनता है। इसी प्रकार तिर्यक्, पशु, पक्षी आदिके शरीरसे जो कर्म किये जाते हैं उनसे भी आगे भोगनेके लिये कुछ भी अदृष्ट नहीं बनता है, उनके शरीर भी उनसे पूर्वके मनुष्य-शरीर-कृत पुण्य-पाप द्वारा ही रचित हैं, अतः उन शरीरोंसे कुछ पुण्य-पाप नहीं हो सकेंगे। इनशरीरोंके छूटनेके पश्चात् पुनः उन पशु, पक्षियोंके पूर्व-जन्मोंके मनुष्य शरीरोंके द्वारा किये गये कर्मसे ही बने हुए अदृष्टके अनुसार शरीर प्राप्त होते हैं। सारांश यह है कि-कर्मका अधिकार केवल मनुष्य शरीरमें ही है। पशु, पक्षी आदि तथा देव शरीरमें नहीं है इसीसे देव शरीरका शास्त्रमें पाप-रहित कह दिया है अर्थात् उन शरीरोंके द्वारा पाप नहीं होते हैं "पाप"यह उपलक्षण है किन्तु धर्म अथवा पाप कुछ भी नहीं होते हैं पशु, पक्षीके शरीर तो अधिकतर पाप और अत्यल्प पुण्यसे बनते हैं। उन शरीरोंमें भी स्त्री संगसे जो सुख होता है वह पुण्यका फल है। और प्रसिद्ध जो अनन्त प्रकारके दुःख होते रहते हैं वे पापके फल हैं। उदर (पेट) से जो गमन करते हैं उन्हें तिर्यक् कहते हैं। जो पक्षोंसे (परोंसे) गमन करते हैं उन्हें पक्षी कहते हैं। जो चार पादसे गमन करते हैं, उन्हें पशु कहते हैं। सब शरीर पुण्य-पापके फल हैं, किसी शरीरमें पुण्य अधिक रहता है, पाप न्यून (कम) रहता है। किसी शरीरमें पाप (अधर्म) ही अधिक रहता है, पुण्य (धर्म) कम न्यून रहता है। देवता शरीरमें अधिक पुण्य रहने आ पाप अत्यन्त

अल्प होनेके अभिप्रायसे शास्त्रोंमें देव-शरीरको पुण्यका फल कहा है। जिस ग्राममें ब्राह्मण जातिकी संख्या अधिक रहती है और अन्य जातिकी संख्या अल्प रहती है उस ग्रामको लोग "ब्राह्मण ग्राम" कहा करते हैं। "भूयसा व्यपदेशो भवति" अर्थात् जिसका आधिक्य रहता है उसीके नामसे व्यवहार होता है। इस नीतिके अनुसार तिर्यक्, पशु, पक्षीके शरीर पाप कर्मके फल कहे जाते हैं, क्योंकि उनके शरीर बहुत अधिक पाप और अत्यन्त अल्प-पुण्यसे रचित हैं। देव शरीर और पशु-पक्षीके शरीरोंसे मानव शरीरमें यह विलक्षणता है कि किसी मनुष्यके शरीर अधिक पुण्य और अल्प पापसे रचित होनेके कारण उत्तम कहे जाते हैं और किसीके शरीर अधिक पाप और अल्प पुण्यसे रचित होनेके कारण अधम कहे जाते हैं। पुण्य, पापका न्यूनाधिक्य नियमसे नहीं रहता है। किन्तु देव शरीर तो निश्चित रूपसे पापकी अपेक्षा अधिकाधिक पुण्य रहनेसे प्राप्त होते हैं। और तिर्यक्, पशु, पक्षीके शरीर नियमसे धर्मकी अपेक्षा अधिकाधिक पाप रहनेसे प्राप्त होते हैं। इस रीतिसे प्राणी मात्रके शरीर पुण्य तथा पाप दोनोंसे रचित हैं किसी एकसे नहीं हैं। और पापका फल दुःख है, अतः जबतक शरीरका अस्तित्व रहेगा तब तक दुःख-निवृत्ति नहीं हो सकती है और शरीरका अस्तित्व तब तक रहता ही है जबतक पुण्य-पाप (धर्म-अधर्म) रहते हैं, क्योंकि पुण्य-पापोंसे ही सब शरीर बनते हैं, और पुण्य, पापोंका विनाश सर्वथा तब ही हो सकता है, जब राग, द्वेष विनष्ट हो जायँ। क्योंकि राग, द्वेष रहनेसे पुण्य पाप होते हैं और राग, द्वेष तो अनुकूल ज्ञान और प्रतिकूल ज्ञानसे उत्पन्न

होते हैं। जिस विषयमें अनुकूल ज्ञान रहता है, उसमें राग होत
और जिसमें प्रतिकूल ज्ञान रहता है उसमें द्वेष होता है। अतः अ
कूल ज्ञान और प्रतिकूल ज्ञानके सर्वथा विनष्ट होनेसे ही राग, द्वेषों
उच्छेद हो सकता है और अनुकूल-ज्ञान, प्रतिकूल ज्ञान तो भेद ज्ञा
उत्पन्न होते हैं, क्योंकि अपनेसे भिन्न वस्तुओंमें ही अनुकूल ज्ञा
और प्रतिकूल ज्ञान होते हैं। केवल अपने स्वरूपमें अनुकूल ज्ञान
प्रतिकूल ज्ञान कुछ भी नहीं होता है। सुखका जो साधन है व
अनुकूल कहलाता है और दुःखका जो साधन है वह प्रतिकूल कह
लाता है।

अपना स्वरूप सुख अथवा दुःख किसीका साधन नहीं है
यद्यपि सुख रूप है, किन्तु सुखका साधन नहीं है। अतः किसी वस्तु
जबतक अपनेसे भेद ज्ञान रहेगा, तबतक अनुकूलज्ञान तथा प्रतिकू
ज्ञान रहेंगे, और वह भेद ज्ञान अविद्यासे होता है। जबतक अविद्
(आत्माके वास्तव स्वरूपका अज्ञान) रहेगी तबतक भेद ज्ञान रहेग
ही, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। और उस अविद्याका विनाश विद्
(आत्म ज्ञान) से ही हो सकता है, अन्य किसी भी उपायसे नहीं
हो सकता है। "नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय" "ऋतेज्ञानान्नमुक्तिः"
"ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" इत्यादि अनेकानेक श्रुतियां इसकी पुष्टिके
लिये पर्याप्त हैं।

पूर्वोक्तरीतिके अनुसार अविद्यासे भेद-ज्ञान और भेद-ज्ञानसे अनु-
कूल, प्रतिकूल ज्ञान और अनुकूल, प्रतिकूल ज्ञान रहनेसे राग, द्वेष और
राग, द्वेष रहनेसे पुण्य, पाप कर्म और पुण्य, पाप कर्मोंसे शरीर धारण

करने पड़ते हैं और शरीर रहनेसे दुःख उत्पन्न होते हैं। यही अविद्या-का विलास है; इसीको संसार कहते हैं। "संसरतिअस्मिन्" इस व्युत्पत्तिके अनुसार संसार शब्दका अर्थ बन्धन होता है। वह संसार-दुःख जिज्ञासुको अभिलषित नहीं है, उसकी निवृत्ति जिज्ञासु पुरुषको अभिलषित है। किन्तु जब तक उसके निदान (मूल कारण) अविद्या का सर्वथा उच्छेद नहीं होगा तब तक दुःखोंका सर्वथा विनाश नहीं हो सकता है। अतः अविद्याका विनाश करना ही एक मात्र पुरुषार्थ है। और परस्पर विरुद्ध होनेके कारण अविद्याका विनाश विद्यासे ही हो सकता है। जिस विषयकी अविद्या रहती है, उस विषयकी जब विद्या (ज्ञान) उत्पन्न हो जाती है, तब वह अविद्या (अज्ञान) विनष्ट हो जाती है, यह अनुभव सिद्ध है।

आत्माकी जो अविद्या है जिसे "मूलाविद्या" कहते हैं, जिसके अस्तित्वसे ही यह समस्त ब्रह्माण्ड दिखाई पड़ते हैं, उसकी निवृत्ति आत्माकी विद्या (स्वरूपके साक्षात्कार) से अवश्यमेव हो जाती है और उस स्वरूपके साक्षात्कार होसे जो त्रिकालमें दुःख-संबन्धसे रहित है उस नित्य परमानन्दस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति भी हो जाती है, अतः आत्माका स्वरूप जानना परम आवश्यक है। इस प्रकारके विवेक-युक्त पुरुषको शास्त्रमें जिज्ञासु कहा है और वही जिज्ञासु इस ग्रन्थके अधिकारी हैं।

चार प्रकारके पुरुषोंमें "मुक्त" पुरुष तो अधिकारी नहीं हैं क्योंकि इस अध्यात्म शास्त्रसे जो प्राप्य है वह उनको प्राप्त हो चुका है और पामर पुरुष तथा विषयी पुरुषोंको विषय सुख (सांसारिक सुख) ही

अभिलषित रहता है । अनुकूल विषयके भोग करनेसे जो सुख उत्पन्न होता है, उसीमें उनकी अलं बुद्धि रहती है। परम आनन्द-स्वरूप आत्म-सुखकी ओर उनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती है। किसी विषयी पुरुषकी प्रवृत्ति भी होती है तो उस आत्म-सुखके जो उपाय नहीं है, उन्हें ही उपाय समझते हैं और उधरही प्रवृत्त हो जाते हैं। क्योंकि वास्तवमें जो उपाय हैं उनका ज्ञान सत्संग और सत् शास्त्रोंके श्रवणसे होता है सो तो उन्हें नहीं रहता है, अतः पामर और विषयी पुरुष सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्तिके लिये अन्यसाधनोंमें प्रवृत्त होते हैं, इस शास्त्रमें प्रवृत्त नहीं होते हैं। केवल जिज्ञासु पुरुषोंकी इस ग्रन्थमें प्रवृत्ति होती हैं अतः जिज्ञासु पुरुष ही इस ग्रन्थके अधिकारी हैं।

विषयका मण्डन

पूर्व जो कहा गया था कि "जीव और ब्रह्मकी एकता नहीं हो सकती, क्योंकि जीव नाना, परिच्छिन्न, कर्त्ता भोक्ता हैं और ब्रह्म एक, व्यापक, अकर्त्ता, अभोक्ता हैं, इस प्रकार दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, और विरोध होनेसे एकता कैसे हो सकती है, अतः इस शास्त्रका विषय जो जीव, ब्रह्मकी एकता है वह सिद्ध नहीं होती है।" यह प्रलाप युक्ति-युक्त नहीं है। क्योंकि एक साक्षीका एक ब्रह्मसे एकता हो सकती है और वही एकता इस शास्त्रका विषय है।

शंका—यदि यह कहा जाय कि जीवसे भिन्न इस शरीरमें और कोई साक्षी नहीं है, "साक्षी" वंध्या पुत्रके समान अलीक है!

समाधान—एक ही अन्तःकरणको विवेकी पुरुष चेतनकी उपाधि समझते हैं और उसी अन्तःकरणको अविवेकी पुरुष चेतनके विरो-

पण समझते हैं। अतः एक ही चेतन विवेकी पुरुषको साक्षी रू[illegible] भासता है और अविवेकी पुरुषको जीव रूप भासता है। इस रीतिसे एकही चेतनमें विशेषण और उपाधिके भेदसे जीवभाव औ[illegible] साक्षिभाव होते हैं।

उपाधि

जो वस्तु जितने प्रदेशमें रहे उतनेही प्रदेशमें स्थित अन्य वस्तुक[illegible] जनावे और स्वयं उससे पृथक् रहे उसे "उपाधि" कहते हैं,जैसे न्या[illegible] मतमें, कर्णगोलक वृत्ती (कानके भीतरके) आकाशको श्रोत्र इन्द्रि[illegible] कहते हैं। यहां कर्णगोलक श्रोत्रकी उपाधि है क्योंकि कर्णगोल[illegible] जितने प्रदेशमें रहता है उतनेप्रदेशमें स्थित आकाशको "श्रोत्र इन्द्रिय[illegible] नामसे जनाता है और स्वयं कर्णगोलक पृथक् रहता है। अर्था[illegible] उस कर्णगोलकस्थित आकाश मात्रको श्रोत्रइन्द्रिय कहते हैं। कर्ण[illegible] गोलकको नहीं।

वैसे ही अन्तःकरण भी जितने प्रदेशमें रहता है उतने प्रदेशस्थ[illegible] चेतनका नाम 'साक्षी' पड़ जाता है। यद्यपि चेतनको यह साक्षी[illegible] संज्ञा अन्तःकरणके सम्बन्धसे हो है, तथापि अन्तःकरण, साक्षी[illegible] स्वरूपमें नहीं भासता है। अर्थात् अन्तःकरण सहित चेतनको साक्षी[illegible] नहीं कहते हैं, किन्तु अन्तःकरण प्रदेश-स्थित चेतन मात्रको साक्षी[illegible] कहते हैं।

उपहित

उपाधि युक्त वस्तुको उपहित कहते हैं, जैसे अन्तःकरण प्रदेश[illegible]

स्थित जो चेतन मात्र है वह उपहित है, क्योंकि वह चेतन अन्तः-करण रूप उपाधिसे युक्त है।

विशेषण

जो अपने सहित किसी अन्य वस्तुको जनावे और व्यावर्त्तक हो अर्थात् दूसरोंसे विशिष्टको व्यावृत्त (अलग) करे उसे विशेषण कहते हैं।

"कुण्डलवान् पुरुषः समागतः" अर्थात् कुण्डलवाला पुरुष आया है" यहां कुण्डल पुरुषका विशेषण है। क्योंकि कुण्डल-सहित पुरुषका आगमन होता है, कुण्डलको छोड़कर नहीं होता है और कुण्डल-रहित पुरुषका व्यावर्त्तक भी होता है।

विशिष्ट

विशेषण सहित वस्तुको विशिष्ट कहते हैं "कुण्डलवाला" यह विशिष्ट पद है। कुण्डल विशेषण है। विशिष्ट और उपहित इन दोनोंमें यह भेद है कि विशेषण तो विशिष्टके साथ रहता है, विशिष्ट वस्तु जबतक रहती है तबतक उसके साथ विशेषण भी रहता है और विशिष्टके अन्वयार्थमें अङ्ग बनकर विशेषण भी शामिल होता है और उपाधि उपहितसे निर्लेप रहती है। उपहित वस्तुके अन्वयार्थमें अङ्ग बनकर उपाधि शामिल नहीं होती है। शरीरमें, कर्त्ता, भोक्ता संसारी जो चेतन है, जिसको जीव कहते हैं उसका तो अन्तःकरण विशेषण है। क्योंकि अन्तःकरण-सहित चेतनको कर्त्ता, भोक्ता संसारी अन्तःकरण कहता है। अतः अन्तःकरण-पूर्ती अर्थात् अन्तःकरणके भीतर रहने-

वाला जो चेतन है वह चेतन और अन्तःकरण यह दोनों मिलकर संसारी या जीव कहलाता है वही कर्त्ता, भोक्ता बनता है। राग, द्वेष आदि सार क्लेश इसी जीवको होते हैं। किन्तु उस जीवके अवयव (हिस्से) दो हैं (१) अन्तःकरण, जो विशेषण है (२) चेतन, जो विशेष्य है।

उसमें जीवके जो विशेषण भाग अन्तःकरण है उसीमें समस्त राग, द्वेषादि क्लेश होते हैं और जो विशेष्य चेतन भाग है उसमें अणुमात्र भी क्लेश नहीं होता है। अत, उस चेतनभागका साक्षीसे भेद नहीं है। क्योंकि एक ही चेतन अन्तः करणसे विशिष्ट होकर संसारी कहलाता है और अन्तःकरणसे उपहित होनेके कारण साक्षी कहलाता है। यदि संसारीके विशेष्य भागमें क्लेश होना स्वीकार करें तो साक्षीमें भी स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि उन दोनोंका अभेद है, और "साक्षी सर्व क्लेश-रहित है" यह श्रुति विज्ञोंका सिद्धान्त है "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" इत्यादि। इस प्रकार यद्यपि अन्तःकरण-विशिष्ट चेतनकी ब्रह्मसे एकता नहीं हो सकती है, किन्तु अन्तःकरण-उपहित जो साक्षी है उसकी ब्रह्मसे एकता हो सकती है। और पूर्व जो यह कहा गया कि "साक्षी यदि स्वीकृत भी हो जाय तो भी नाना (अनेक) साक्षी स्वीकार करने पड़ेंगे और फिर नाना साक्षीका एक ब्रह्मसे अभेद कैसे हो सकता है! यदि अभेद स्वीकार भी कर लें तो ब्रह्मकी तरह साक्षी भी सब शरीरोंमें एक ही व्यापक होगा" यह बात भी असंगत है। ईश्वर-साक्षी तो एक ही है। यद्यपि जीव-साक्षी नाना हैं और परिच्छिन्न हैं तो भी उनकी एकता एक व्यापक ब्रह्मसे हो सकती है। जैसे

घटाकाश नाना हैं और परिच्छिन्न हैं किन्तु महाकाशसे भिन्न नहीं है। इसी प्रकार परिच्छिन्न और नाना जीव-साक्षी भी एक ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं, किन्तु ब्रह्म रूप ही हैं।

और पूर्व जो यह कहा गया था कि सुख, दुःख अन्तःकरणके विषय नहीं हैं किन्तु साक्षी-भास्य हैं, अर्थात् साक्षीके विषय हैं। अतः साक्षी नाना मानने पड़ेंगे अन्यथा एकके सुख अथवा दुःखसे सबको सुखी अथवा दुःखी होना चाहिये" यह कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि नियम यह है कि जब पुण्य, पाप-निमित्तसे अन्तःकरणका सुखरूप अथवा दुःखरूप परिणाम होने लगता है। जिस समय अन्तःकरणकी वृत्ति, जो ज्ञानरूप है वह सुख,दुःख जो विषय हैं उन विषयोंके आकारमें परिणत हो जाती है उसी समय सुख, अथवा दुःखको विषय करनेके लिये निकली हुई जो अन्तःकरणकी वृत्ति है उसी वृत्तिमें आरुढ़ होकर साक्षी उन सुख, दुःखोंको भासित करता है, तब सुख, दुःखका भान होता है। नहीं तो सुख,दुःखोंका भान नहीं होता।क्योंकि अन्तःकरण और उससे निकली वृत्ति दोनों जड़ हैं। प्रकाश,जड़का धर्म नहीं होता है। अतःचेतन-साक्षीके निमित्तसे ही सुख, दुःखोंका प्रकाश होता है, यह सिद्धान्त अनिवार्य है। इसी तात्पर्यसे वेदान्त शास्त्रमें सुख, दुःख साक्षीके विषय कहे गये हैं किन्तु बिना साक्षीके केवल अन्तःकरणके सुख, दुःख विषय हो नहीं सकते।

यहाँ यह रहस्य है कि जैसे घटके लानेसे उसके साथ उसमें उप-हित जो आकाश है, वह भी लाया जाता है। यद्यपि आनयन रूप कार्य [illegible] ही होता है आकाशका नहीं होता है, किन्तु घटरूप उपाधिके

निमित्तसे आकाशका भी आनयन प्रतीत होता है। यदि घटरूप उपा-
धिका लाना न हो तो घटोपहित आकाशका भी लाना नहीं हो सकता है
उपाधिके कारणसे ही आकाशकी "घटाकाश" ऐसी संज्ञा भी होती है
उपाधि जो घट है उसका परित्याग कर देनेसे घटाकाश महाकाश ही
है, महाकाशसे भिन्न नहीं है, सारांश यह है कि शुद्ध, निष्क्रिय, अद्वि
तीय, चेतनमें "साक्षी" ऐसी संज्ञा होना और उस साक्षीके द्वारा अन्तः
करणके धर्मोंके साथ अन्तःकरणका प्रकाश रूप कार्य होना यह स
अन्तःकरण रूप उपाधिके निमित्तसे ही प्रतीत होते हैं, अन्तःकरण जो
चेतनकी उपाधि है, उसका त्याग कर देनेसे "साक्षी" नाम पड़न
और सुख, दुःखादि धर्म सहित अन्तःकरणका भान होना यह सब कुछ
भी प्रतीत नहीं होते, किन्तु चेतन मात्र ब्रह्म ही प्रतीत होता। अत
वास्तवमें, "साक्षी और ब्रह्मका अभेद है" यह सिद्धान्त मान्य है
वह साक्षी 'जीव' पदका लक्ष्य अर्थ है, इसलिये जीव और साक्षी दोनों
एक ही सिद्ध होते हैं। अतः जीव, ब्रह्मकी एकता इस शास्त्रका
विषय सिद्ध होता है।

प्रयोजनका मण्डन

प्रथम यह आक्षेप किया गया था कि—जगत्रूप सारे प्रपञ्च
सत्य हैं, मिथ्या तो नहीं प्रतीत होते हैं, और सत्य वस्तुकी निवृत्ति
ज्ञानसे नहीं होती है, किन्तु मिथ्या वस्तुकी ही ज्ञानसे निवृत्ति होती
है। अतः प्रपञ्चकी निवृत्ति वेदान्त शास्त्रके ज्ञानसे नहीं हो सकती है
इसलिये इस ग्रन्थका प्रपञ्च-निवृत्तिरूप प्रयोजन नहीं हो सकता" य
आक्षेप भी युक्ति-शून्य है।

यह प्रपञ्च मिथ्या है, सत्य नहीं है, क्योंकि समस्त प्रपञ्चरूप ब्रह्माण्ड अद्वितीय आत्मामें अध्यस्त है और जब प्रपञ्चका अध्यास सिद्ध है तब मिथ्यात्व भी सिद्ध ही है। अध्यासकी पूर्वोक्त पञ्च सामग्रीका खण्डन करके प्रपञ्चका अध्यास सिद्ध करते हैं।

सत्य वस्तुज्ञान-जन्य संस्कारका खण्डन

अध्यास होनेमें प्रथम सत्य ही वस्तुका कभी ज्ञान रहना चाहिये अर्थात् जिसका अध्यास होगा वह सत्य ही हो, और उसी सत्य वस्तुज्ञान-जन्य संस्कार रहे" यह आवश्यक नहीं है; किन्तु सजातीय वस्तुका पूर्व ज्ञान मात्र अपेक्षित है। वस्तु सत्य हो अथवा मिथ्या हो। जैसे-जिस मनुष्यने छुहारेके सत्यवृक्षको कभी नहीं देखा है और बाजीगरके द्वारा निर्मित मिथ्या छुहारा वृक्षको कई बार देखा है और उससे सुना है कि 'यह छुहारेका वृक्ष है' किन्तु खजूरका वृक्ष कभी न तो देखा है और न सुना है, उस मनुष्यको भविष्यमें कभी खजूर वृक्ष देखनेसे उस खजूरके वृक्षमें ही छुहारेका अध्यास (भ्रम) होता है। अतः सजातीय वस्तु ज्ञानजन्य संस्कार ही अध्यासका हेतु है। सत्य वस्तुज्ञान-जन्य संस्कार हेतु नहीं है। क्योंकि खजूरके सजातीय (सदृश) मिथ्या छुहारेका ज्ञान पहले था इसलिये खजूरमें छुहारेका अध्यास होना उपपन्न होता है।

शंका—केवल सजातीय वस्तु-ज्ञानको ही अध्यासका कारण स्वीकार करना चाहिये, वस्तुज्ञान-जन्य संस्कारको नहीं, जिस वस्तु-का अध्यास होता हो उसके सजातीयका पहले ज्ञान रहना आवश्यक है। संस्कारको स्वीकार करनेसे गौरव होता है।

समाधान—कार्य होनेके अव्यवहित पूर्वकालमें (उसके ठीक प्रथम क्षणमें) हेतु (कारण) का अस्तित्व आवश्यक है। घड़ा होनेके अव्यवहित पूर्वकालमें जब दण्ड, चक्र, चीवर (सूत) कुलाल, मृत्तिकाओंका अस्तित्व रहता है तब घड़ाके दण्ड आदि कारण कहे जाते हैं। यहां तो सर्पके ज्ञान होनेके एक महीने पश्चात् भी रज्जुमें सर्पका अध्यास होता है, सो नहीं होना चाहिये, क्योंकि एक मास पूर्व उत्पन्न जो सर्पका ज्ञान था वह तो अध्यास रूप कार्यके अव्यवहित पूर्वकालमें नहीं है। ज्ञान दो क्षण मात्र ही रहते हैं। सर्पज्ञान उसी समय उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाता है, अध्यास होनेके अव्यवहित पूर्वकालमें उसका अस्तित्व नहीं रहनेके कारण वहां अध्यास नहीं होना चाहिये और वहां अध्यास होता है। अतः सजातीय वस्तुज्ञान-जन्य संस्कार ही अध्यासका कारण है, केवल ज्ञान नहीं है। संस्कार, ज्ञानसे उत्पन्न होकर अन्तः-करणमें रहते हैं, इसलिये अध्यासरूप कार्य होनेके अव्यहित पूर्व-कालमें उसकी सत्ता रहती है, तब अध्यास होता है। इस रीतिसे सर्वत्र अध्यासका कारण संस्कार ही है, ज्ञान नहीं है।

अति सूक्ष्म अवस्थाका नाम संस्कार है।

शंका—यदि कार्यके अव्यवहित पूर्व कालमें कारणका रहना आवश्यक हो तो"यागात् स्वर्गः" अर्थात् यज्ञसे स्वर्ग होता है। यहां यज्ञकर्म तो क्रियारूप होनेसे उसी समय अनुष्ठान करनेके अनन्तर ही नष्ट हो जाता है और उस यज्ञसे जन्मान्तरमें स्वर्ग प्राप्त होता है, सो कैसे हो सकता है ? क्योंकि स्वर्ग होनेके अव्यवहित पूर्व कालमें यज्ञकी सत्ता नहीं है, अतः यज्ञ स्वर्गका कारण नहीं कहला सकताहै।

यह प्रपञ्च मिथ्या है, सत्य नहीं है, क्योंकि समस्त प्रपञ्चरूप ब्रह्माण्ड अद्वितीय आत्मामें अध्यस्त है और जब प्रपञ्चका अध्यास सिद्ध है तब मिथ्यात्व भी सिद्ध ही है। अध्यासकी पूर्वोक्त पञ्च सामग्रीका खण्डन करके प्रपञ्चका अध्यास सिद्ध करते हैं।

सत्य वस्तुज्ञान-जन्य संस्कारका खण्डन

अध्यास होनेमें प्रथम सत्य ही वस्तुका कभी ज्ञान रहना चाहिये अर्थात् जिसका अध्यास होगा वह सत्य ही हो, और उसी सत्य वस्तुज्ञान-जन्य संस्कार रहे" यह आवश्यक नहीं है; किन्तु सजातीय वस्तुका पूर्व ज्ञान मात्र अपेक्षित है। वस्तु सत्य हो अथवा मिथ्या हो। जैसे-जिस मनुष्यने छुहारेके सत्यवृक्षको कभी नहीं देखा है और बाजीगरके द्वारा निर्मित मिथ्या छुहारा वृक्षको कई बार देखा है और उससे सुना है कि 'यह छुहारेका वृक्ष है' किन्तु खजूरका वृक्ष कभी न तो देखा है और न सुना है, उस मनुष्यको भविष्यमें कभी खजूर वृक्ष देखनेसे उस खजूरके वृक्षमें ही छुहारेका अध्यास (भ्रम) होता है। अतः सजातीय वस्तु ज्ञानजन्य संस्कार ही अध्यासका हेतु है। सत्य वस्तुज्ञान-जन्य संस्कार हेतु नहीं है। क्योंकि खजूरके सजातीय (सदृश) मिथ्या छुहारेका ज्ञान पहले था इसलिये खजूरमें छुहारेका अध्यास होना उपपन्न होता है।

शंका—केवल सजातीय वस्तु-ज्ञानको ही अध्यासका कारण स्वीकार करना चाहिये, वस्तुज्ञान-जन्य संस्कारको नहीं, जिस वस्तु-का अध्यास होता हो उसके सजातीयका पहले ज्ञान रहना आवश्यक है। संस्कारको स्वीकार करनेसे गौरव होता है।

समाधान—कार्य होनेके अव्यवहित पूर्वकालमें (उसके ठीक प्रथम क्षणमें) हेतु (कारण) का अस्तित्व आवश्यक है। घड़ा होनेके अव्यवहित पूर्वकालमें जब दण्ड, चक्र, चीवर (सूत) कुलाल, मृत्तिकाओंका अस्तित्व रहता है तब घड़ाके दण्ड आदि कारण कहे जाते हैं। यहां तो सर्पके ज्ञान होनेके एक महीने पश्चात् भी रज्जुमें सर्पका अध्यास होता है, सो नहीं होना चाहिये, क्योंकि एक मास पूर्व उत्पन्न जो सर्पका ज्ञान था वह तो अध्यास रूप कार्यके अव्यवहित पूर्वकालमें नहीं है। ज्ञान दो क्षण मात्र ही रहते हैं। सर्पज्ञान उसी समय उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाता है, अध्यास होनेके अव्यवहित पूर्वकालमें उसका अस्तित्व नहीं रहनेके कारण वहां अध्यास नहीं होना चाहिये और वहां अध्यास होता है। अतः सजातीय वस्तुज्ञान-जन्य संस्कार ही अध्यासका कारण है, केवल ज्ञान नहीं है। संस्कार, ज्ञानसे उत्पन्न होकर अन्तः-करणमें रहते हैं, इसलिये अध्यासरूप कार्य होनेके अव्यहित पूर्व-कालमें उसकी सत्ता रहती है, तब अध्यास होता है। इस रीतिसे सर्वत्र अध्यासका कारण संस्कार ही है, ज्ञान नहीं है।

अति सूक्ष्म अवस्थाका नाम संस्कार है।

शंका—यदि कार्यके अव्यवहित पूर्व कालमें कारणका रहना आवश्यक हो तो"यागात् स्वर्गः" अर्थात् यज्ञसे स्वर्ग होता है। यहां यज्ञकर्म तो क्रियारूप होनेसे उसी समय अनुष्ठान करनेके अनन्तर ही नष्ट हो जाता है और उस यज्ञसे जन्मान्तरमें स्वर्ग प्राप्त होता है, सो कैसे हो सकता है ? क्योंकि स्वर्ग होनेके अव्यवहित पूर्व कालमें यज्ञकी सत्ता नहीं है, अतः यज्ञ स्वर्गका कारण नहीं कहला सकताहै।

और "यागात् स्वर्गः" इत्यादि वचनोंसे यज्ञकर्म स्वर्गका कारण समझा जाता है।

समाधान—यद्यपि यज्ञकर्म स्वर्गका सक्षात् कारण नहीं है किन्तु शुभ, अशुभ कर्म करनेसे पुण्य, पापात्मक अदृष्ट उत्पन्न होते हैं, जिसको मीमांसक लोग "अपूर्व" कहते हैं। यज्ञ नष्ट हो जानेपर भी उससे उत्पन्न अदृष्ट अन्तःकरणमें रहते हैं और उस अदृष्टकी सत्ता स्वर्ग होनेके अव्यवहित पूर्वकालमें भी रहती है। अतः यज्ञसे अदृष्ट और अदृष्टसे स्वर्ग इस परम्पराक्रमसे यज्ञ अदृष्टके द्वारा स्वर्गका कारण है, साक्षात् नहीं है। इस प्रकार प्रपञ्चका अध्यास हो सकता है। क्योंकि अहङ्कारसे लेकर जितने अनात्म वस्तु हैं उन सबको प्रपञ्च कहते हैं, वह प्रपंच रज्जुमें सर्पकी तरह जब प्रतीत हो तब ही उसकी सत्ता है और जब प्रतीत न हो तब उसकी सत्ता नहीं है। क्योंकि मिथ्या वस्तुकी प्रतीतिपर ही सत्ता निर्भर है। स्वप्नके पदार्थकी भी जिस समय प्रतीति होती है उसी समय वह है। जागनेपर नहीं है। इसी प्रकार प्रपंचकी जब तक प्रतीति होती है तबही तक प्रपंच है, आत्म-ज्ञान होनेपर नहीं है। अर्थात् उसकी व्यावहारिक सत्ता नहीं रहती है।

और यह मिथ्या प्रपंच अनादि है इस लिये उत्तर उत्तर प्रपंचके अध्यास होनेमें पूर्व, पूर्व प्रपंचके ज्ञान-जन्य संस्कार कारण बनते हैं, अर्थात् एक अहंकारादि-प्रपंचके अध्यास होनेमें उसके प्राचीन उसीके सदृश अहंकारादि-प्रपंचके ज्ञान-जन्य संस्कार कारण है। और उस प्राचीन प्रपंचके अध्यासमें उससे भी प्राचीनतम प्रपंचके

ज्ञान-जन्य संस्कार कारण है, इस पूव पूर्वके क्रमसे अनादि प्रपञ्चसे उत्पन्न संस्कार भी अनादि है। और अनादि संस्कारसे अनादि अध्यास सिद्ध होता है। सब संस्कार अन्तःकरणमें रहते हैं और जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं होता तबतक अन्तःकरण रहता ही है। एक जीवके जितने शरीर धारण करने पड़ते हैं, सबोंमें एक ही अन्तःकरण जाता है, क्योंकि वेदान्तका सिद्धान्त है कि :—

(१) ब्रह्म (२) ईश्वर (३) जीव (४) अविद्या (५) अविद्या—चैतन्य सम्बन्ध (६) अनादि-वस्तुओंका परस्पर भेद।

यह षट् पदार्थ स्वरूपसे अनादि हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति नहीं होती है। यद्यपि अहंकार आदि प्रपञ्चकी उत्पत्ति और लय श्रुतिमें कहे गये हैं तथापि प्रवाह रूपसे अनादि ही हैं। अनादि कालसे ऐसा कोई भी समय नहीं हुआ जिस समय कोई घड़ा न हो, अतः घटका प्रवाह अनादि है। इस प्रकार सब वस्तुओंका प्रवाह अनादि है।

"बीजांकुरवत्" अध्यास अथवा प्रपञ्च इन दोनोंमेंसे पहले किसी का होना स्थिर नहीं हो सकता है, दोनों प्रवाह रूपसे अनादि हैं। अतः सजातीय वस्तुके ज्ञान-जन्य संस्कार अध्यासकी सामग्री है।

प्रमेय दोषका खण्डन

पूर्व यह आक्षेप किया गया था कि तीन प्रकारके दोष अध्यासक हेतु होते हैं, इस प्रपञ्चके अध्यासमें एक भी दोष नहीं है, अतः प्रपञ्च सत्य है, यह कहना भी भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि हेतु वह कहा जाता है,

रूप-रहित आकाशमें नील रूपका अध्यास सबको होता है और कटाह
था तम्बूके आकारका भी अध्यास होता है, और सबके नेत्ररूप
माणमें दोष कहना सङ्गत नहीं है अतः प्रमाण दोष भी अध्यासका
ारण नहीं कहा जासकता है।

प्रमातृ दोष-खण्डन

प्रमाताके लोभ, भय आदि दोष भी अध्यासके हेतु नहीं हैं।
योंकि जो लोभ-रहित वैराग्य-युक्त पुरुष हैं, उन्हें भी शुक्ति (सीपी)
रजत (रूपा) का अध्यास होता है, अतः प्रमाताका दोष भी
ध्यासका कारण नहीं हो सकता है।

विशेष रूपसे अधिष्ठानके अज्ञानका खण्डन

यह जो आक्षेप किया गया था कि "अधिष्ठानका सामान्य रूपमें
ान और विशेष रूपसे जब अज्ञान रहता है तब ही अध्यास देखा
ाता है" जैसे-रज्जु-सर्प इत्यादि स्थानमें अधिष्ठान रज्जुका सामान्य
ंश इदं रूपसे ज्ञान है और विशेष अंश रज्जु रूपसे अज्ञान रहता
तब रज्जुमें सर्पका अध्यास होता है। "यहां आत्मामें सामान्य-
शेष भाव नहीं है, आत्मा निर्विशेष है। अर्थात् उसमें एक भी धर्म
हीं है और निर्विशेष होनेसे सामान्य रूपसे ज्ञात और विशेष रूपसे
ज्ञात आत्मा नहीं हो सकते" यह कहना भी तर्क रहित है, क्योंकि
नने स्वरूपको आत्मा कहते हैं "आत्मा है" ऐसी सबको प्रतीति
ती है। 'मैं नहीं हूं' यह किसीको भी प्रतीति नहीं होती है। 'मैं हूं'
ो प्रतीति सबको होती है। अतः सत् रूपसे आत्माका भान
बको होता है। "चैतन्य, आनन्द, नित्य-शुद्ध, नित्य-मुक्त,

अद्वितीय, व्यापक, आत्मा है' इस रूपसे सबको प्रतीति नहीं होती है, और जिन्हे इस रूपकी प्रतीति होती है वह जीवन्मुक्त हैं। अतः चैतन्य आदि विशेष रूपसे आत्मा अज्ञात हैं, और सत् रूप सामान्य अंशसे आत्मा ज्ञात हैं। अतः आत्मा रूप अधिष्ठानमें समस्त प्रपञ्चका अध्यास सिद्ध होता है।

और 'आत्मा निर्विशेष है' इस सिद्धान्तका भी व्याघात नहीं होता है, क्योंकि आत्मामें सामान्य-विशेष भाव वास्तवमें नहीं है, अविद्या कल्पित है। सामान्य, विशेषकी तरह प्रतीति मात्र है, परमार्थ में तो आत्मा निर्विशेषही है जैसा—श्रुतिओंमें कहा है "असंगो ह्ययं पुरुषः' अर्थात् यह पुरुष (आत्मा) असंग है। एक भी धर्म (अंश) इसमें नहीं है। इस प्रकार आत्मामें प्रपञ्चका अध्यास हो सकता है और अध्यास होनेसे प्रपंचकी ज्ञानसे निवृत्ति भी हो सकती है। अतः इस ग्रन्थका प्रयोजन सिद्ध होता है।

वैदिक कर्म मोक्षका साक्षात् साधन नहीं

यह जो आक्षेप किया गया था कि निषिद्ध और काम्य कर्मको छोड़कर शास्त्रोक्त नित्य,नैमित्तिक और प्रायश्चित्त कर्म करना चाहिये, क्योंकि निषिद्ध कर्म नहीं करनेसे नीच लोक प्राप्त नहीं होते हैं। और काम्य कर्मके अभावसे उत्तम लोककी भी प्राप्ति नहीं होती है। अर्थात् निषिद्ध और काम्य कर्मोंके अभावसे पाप तथा पुण्य कुछ भी नहीं होते हैं। और पुण्य,पाप नहीं होनेसे उत्तम,अधम लोक कुछ भी नहीं होते हैं। नित्य, नैमित्तिक कर्म नहीं करनेसे जो पाप होते हैं वे तो नित्य, नैमित्तिक कर्म करनेसे उत्पन्न ही नहीं होंगे, और जन्म,

जन्मान्तरके जो संचित पाप हैं उन पापोंका साधारण और असाधारण इन दोनों प्रायश्चित्तोंसे नाश हो जायगा। तथा जन्म, जन्मान्तर के जो संचित काम्य कर्म हैं, उन काम्य कर्मोंके फलकी इच्छा मुमुक्षु पुरुषको नहीं रहनेके कारण उनका फल भोगना नहीं पड़ता है जिससे उन्हें शरीर धारण करना पड़े, अतः मुमुक्षु पुरुषको आत्म-ज्ञानके बिना भी केवल वैदिक नित्य, नैमित्तिक और प्रायश्चित्त कर्मकलापसे ही जन्मोंका अभाव रूप मोक्ष मिल सकता है, यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि नित्य, नैमित्तिक कर्मकलापका भी फल स्वर्गादि मिलना है, उनसे जन्मोंका अभावरूप मोक्ष प्राप्त नहीं होता है।

यहां यह रहस्य है, कि नित्य, नैमित्तिक कर्मोंके नहीं करनेसे जो पाप होना कहा है, सो कैसे हो सकता है! क्योंकि नित्य, नैमित्तिक कर्मोंका नहीं करना अभावरूप है और पाप भावरूप है। अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं होती है, अतः नित्य, नैमित्तिक कर्मोंके नहीं करनेसे पाप होता है, यह कहना असंगत है।

इस रीतिसे जब नित्य, नैमित्तिक कर्मोंके नहीं करनेसे पापकी उत्पत्ति असंगत है तो नित्य,नैमित्तिक कर्मोंका फल पापोंकी अनुत्पत्ति रूप नहीं कहा जा सकता है। अतः नित्य, नैमित्तिक कर्मोंका फल स्वर्गादि रूप उत्तम लोककी प्राप्ति नहीं स्वीकार करें तो नित्य, नैमित्तिक कर्म निष्फल होगा और निष्फल कर्मोंके प्रतिपादक वेद भी निष्फल होगा इसलिये नित्य, नैमित्तिक कर्मोंका भी स्वर्गादि फल मानना उचित है। यह स्वर्गादि फल मुमुक्षुको अभिलषित नहीं है क्योंकि स्वर्गादि नाशवान् है। "यथेह कर्मचितोलोकः क्षीयते

एवमेवा मुत्रपुण्यचितोलोकः क्षीयते" अर्थात् जैसे यह संसार नाशवान् है उसी प्रकार पुण्यलोक स्वर्गादि भी नाशवान है।

यह भी कहना असंगत है कि "जन्म, जन्मान्तरके जो काम्य-कर्म हैं उनके फल भोगनेकी इच्छा नहीं रहनेसे फल नहीं मिलता है।"

शुभाशुभ समस्त कर्मों द्वारा दो अङ्कुर उत्पन्न होते हैं।

(१) वासना (२) अदृष्ट। धर्म अधर्मका नाम अदृष्ट है। पुण्य, पाप कर्म करनेकी अभिलाषाका नाम वासना है। विहित कर्मसे शुभ वासना तथा धर्मरूप अदृष्ट उत्पन्न होता है। धर्मरूप अदृष्टसे सुख-भोग होता है और शुभ वासनासे पुनः पुण्यकर्म करनेकी इच्छा होती है। निषिद्ध कर्मसे अशुभ वासना तथा अधर्मरूप अदृष्ट उत्पन्न होता है। अधर्म-रूप अदृष्टसे दुःख भोगना पड़ता है और अशुभ वासनासे पुनः पाप कर्म करनेकी इच्छा होती है। इनमें वासनाका नाश तो उपाय करनेसे हो जाता है किन्तु अदृष्टका नाश किसी उपायसे नहीं हो सकता है। जैसा प्रारब्धरूप अदृष्ट रहता है वैसा सबको भोगना ही पड़ता है। "प्रारब्ध कर्मणांभोगादेवक्षयः" अर्थात् प्रारब्ध कर्मोंका भोग करनेसे ही नाश होता है। यह शास्त्रका सिद्धान्त है। निषिद्ध कर्म करनेसे जो अशुभ वासना उत्पन्न होती है उसका ही सत्संग आदि उपायोंसे नाश होता है।

और विहित कर्म करनेमें जो शुभवासना उत्पन्न होती है, उसका ही कुसङ्ग आदि उपायोंसे नाश हो जाता है।

इस प्रकार पुण्य-पापकर्मोंमें प्रवृत्ति करानेवाली जो शुभाशुभ वासना हैं उन्हींका नाश पुरुषार्थसे होता है अदृष्ट (प्रारब्ध) का नाश

नहीं होता है, इस रीतिसे पुरुषार्थ भी सफल है क्योंकि उससे वासना का क्षय होता है जो विचारशील पुरुषको अत्यन्त अभिलषित है और "फल दिये विना प्रारब्ध कर्मकी निवृत्ति नहीं होती है" यह जो शास्त्रमें कथित है उसका भी विरोध नहीं होता है। इस रीतिसे इच्छा नहीं रहनेपर भी शुभाशुभ कर्मोंका फल भोग करना ही पड़ता है।

यदि इच्छा नहीं रहनेसे काम्य कर्मोंका फल भोगना न पड़े तो निषिध कर्म जो हैं जिनका फल दुःख भोगना पड़ता है, दुःख भोगनेकी इच्छा तो किसीको नहीं है, अतः उनका भोग नहीं होना चाहिये।

शंका—यदि यह कहा जाय कि जैसे—वेदान्त-मतमें, निष्काम कर्म करनेसे केवल शुद्ध अन्तःकरण होता है। पुनः श्रवणादिसाधनसे ज्ञान होता है, किन्तु निष्काम कर्मका स्वर्गादि फल नहीं होता है उसी प्रकार कर्म करनेके पश्चात् भी निष्काम हो जानेसे, जन्म, जन्मान्तरके किये हुए काम्य कर्मोंका भी फल नहीं हो सकता है।

समाधान—इच्छा नहीं रहनेपर अज्ञानी पुरुषको किये हुए काम्य कर्मका फल न हो यह वेदान्तका मत नहीं है। वेदान्त मतमें निष्काम कर्म करनेसे भी अन्तःकरणकी शुद्धि और स्वर्गादि उत्तम लोककी प्राप्ति रूप फल भी होता है। यदि श्रवणादि साधनों द्वारा आत्मज्ञान हो जाय तो फल भोग नहीं होता है, भगवद्गीता—"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन" अर्थात् ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मोंको (प्रारब्धके अतिरिक्त संचित और क्रियमाण कर्मोंको) भस्मसात् कर देती है। श्रवणादि साधनके विना निष्काम कर्मसे स्वर्गादि फल अवश्य होता है किन्तु निष्काम कर्म करनेसे अन्तःकरणको शुद्ध कर

: श्रवणादि साधन प्राप्त होनेसे आत्मज्ञान होता है, तब प्रारब्धके
न कर्मोंका भोग नहीं होता है।

प्रायश्चित्त कर्मोंके द्वारा भी पाप कर्मोंका नाश नहीं हो सकता
क्योंकि अनादि कालसे असंख्य, संचित जो पाप अन्तःकरणमें
: पड़े हैं उन सबोंका प्रायश्चित्त एक जन्ममें तो हो नहीं सकता
और गंगास्नान, ईश्वरका नाम-उच्चारण आदि जो सर्वपाप नाशक
यश्चित्त कहे गये हैं वे भी ज्ञानके द्वारा ही सर्वपाप-नाशक कहे गये
साक्षात् नहीं, अर्थात् उनके करनेसे शुद्ध अन्तःकरण होकर महा-
क्य श्रवणसे ज्ञान होता है। और ज्ञानसे प्रारब्धके अतिरिक्त
की सब कर्मोंका नाश हो जाता है जैसे "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि
स्मसात् कुरुतेऽर्जुन" इत्यादि कहा है। इस रीतिसे काम्य कर्म और
निषिद्ध कर्मोंको छोड़कर केवल नित्य, नैमित्तिक और प्रायश्चित्त कर्म
रनेसे भी अनन्त जन्मोंके किये हुए शुभाशुभ कर्मोंके फल भोगनेके
लिये अज्ञानी पुरुषोंको अनन्त शरीर धारण करने पड़ते हैं, कथमपि
कर्मोंका अभाव रूप मोक्ष नहीं मिल सकता है।

अतः ज्ञान द्वारा प्रपञ्चकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति
न्थका प्रयोजन उपपन्न (सिद्ध) होता है।

सम्बन्धका मण्डन

पूर्वोक्त रीतिसे इस ग्रन्थके अधिकारी विषय, प्रयोजनके सिद्ध हो
जानेसे प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव आदि संबन्धभी सिद्ध हो जाते हैं
अतः ग्रन्थका प्रारम्भ सफल है।

अनुबन्ध चतुष्टय-खण्डन मण्डनात्मक द्वितीय रत्न समाप्त।

प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके साथ जो विरोध होता है, उस विरोधको युक्तियों-से निराकरण करनेको अविरोध कहते हैं।'

ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायमें अविरोधका विचार किया गया है।

साधन

ब्रह्म-ज्ञानकी प्राप्तिके जो उपाय हैं उन्हें 'साधन' कहते हैं।

साधन दो प्रकारके होते हैं। (१) अन्तरंग (२) बहिरंग

ब्रह्मसूत्रके तृतीय अध्यायमें साधनका विचार किया गया है।

फल

उन साधनोंके द्वारा जो प्राप्त होता है उसे 'फल' कहते हैं।

फल भी दो प्रकारके होते हैं। (१) पर (२) अपर।

ब्रह्मसूत्रके चौथे अध्यायमें फलका विचार किया गया है।

अन्तरङ्ग साधन

'तत्त्वमसि' आदि वाक्यार्थोंका जो विचार करना है उसे 'अन्तरंग साधन' कहते हैं।

'तत्त्वमसि' वाक्यार्थका विचार अन्तरंगसाधन होनेसे 'तत्' 'त्वम्' पदार्थोंका विचार तो सुतराम् अन्तरङ्ग साधन है, अतः ब्रह्म-ज्ञानरूप फलके अभिलाषियोंको प्रथम 'तत्' 'त्वम्' पदार्थोंका विचार करना आवश्यक है।

शंका—लोक तथा शास्त्रोंमें तो सुखकी प्राप्ति तथा दुःखकी निवृत्तिको ही पुरुषार्थ कहते हैं। 'तत्' 'त्वम्' पदार्थोंका विचार न तो सुख-प्राप्तिरूप है न दुःख-निवृत्तिरूप ही है, अतः पुरुषार्थ नहीं होनेके कारण 'तत्' 'त्वम्' पदार्थोंका विचार परित्याज्य है।

समाधान—यद्यपि 'तत्' 'त्वम्' पदार्थोंका विचार साक्षात् पुरुषार्थ नहीं है, किन्तु जीव और ब्रह्मकी एकताका दृढ़ निश्चयरूप पुरुषार्थका साक्षात् साधन जो 'तत्वमसि' आदि वाक्यार्थका विचार है उस विचारमें प्रथम 'तत्' 'त्वम' पदार्थोंका विचार आवश्यक है। क्योंकि वाक्यार्थके ज्ञानके प्रति पदार्थज्ञान कारण होता है।

इस परम्परा क्रमसे 'तत्' 'त्वम्' पदार्थोंका विचार मोक्षरूप पुरुषार्थका कारण है अतः परित्याज्य नहीं है किन्तु उपादेय है।

ब्रह्मके दो लक्षण हैं। (१) तटस्थ लक्षण (२) स्वरूप लक्षण

तटस्थ लक्षण

"कादाचित्कत्वे सति व्यावर्त्तकं तटस्थ लक्षणम्" अर्थात् जो लक्षण अपने लक्ष्यमें कभी रहे कभी न रहे, और अपने लक्ष्यको दूसरे पदार्थोंसे अलग रखे उसे तटस्थ लक्षण कहते हैं।

ब्रह्मका "सृष्टि, स्थिति, लय-कारणत्व" तटस्थ लक्षण है।

क्योंकि जगतकी उत्पत्ति, स्थिति, लयकी कारणता ब्रह्ममें सदा नहीं रहती है, किन्तु जबतक ब्रह्ममें मायाका सम्बन्ध रहता है तभी-तक ब्रह्म जगतका कारण है। माया-रहित ब्रह्म तो अकर्त्ता निर्लेप हैं। अतः उपनिषद् आदि सत् शास्त्रोंमें 'जगतकी कारणतारूप' जो लक्षण ब्रह्मका कहा गया है वह तटस्थ लक्षण है क्योंकि 'जगत्-कारणत्व रूप' लक्षण ब्रह्ममें कदाचित् रहता है, सदा नहीं रहता है, अर्थात् सोपाधिक ब्रह्ममें रहता है, निरुपाधिक ब्रह्ममें नहीं रहता है,

और अपने लक्ष्यरूप ब्रह्मको दूसरे पदार्थोंसे अलग भी रखता है, अर्थात् जगतका कारण मायोपहित ब्रह्म ही हैं, परमाणु या प्रकृति नहीं है। श्रुति—"यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति" अर्थात् जिससे यह समस्त जगत् उत्पन्न होते हैं, जिसमें जीवित रहते हैं तथा जिसमें जगतकी लय (विनाश) होता है उसका विचार करो, वह ब्रह्म है।

इस प्रकारकी श्रुतियोंके विमर्शसे ब्रह्म ही जगतका उपादानकारण तथा निमित्तकारण सिद्ध होते हैं।

उपादान कारण

जो जिस वस्तुको उत्पन्न करे तथा स्वयम् उसमें अनुगत रहते हुए उस वस्तुकी लयका भी आश्रय हो वह उस वस्तुका उपादान कारण होता है।

जैसे-घटका उपादान कारण मृत्तिका है, और पट (कपड़ा) का उपादान कारण तन्तु (सूत) है।

निमित्त कारण

जो जिस वस्तुको उत्पन्न करे तथा स्वयम् उस वस्तुमें अनुस्यूत (अनुगत) न हो उससे निर्लेप रहे वह उस वस्तुका 'निमित्त कारण' है।

जैसे—घटके निमित्तकारण कुलाल, (कुम्हार) दण्ड, चक्र (चाक) चीवर (सूत) आदि हैं तथा पटके निमित्त कारण जुलाहा तथा तुरी, वेमा आदि औजार हैं।

जैसे—घड़ा, सिकोड़ा आदि मिट्टीसे अनेक चीजें बनती हैं उनके नाम और रूप अनेक प्रकारके होते हैं किन्तु मृत्तिका सब चीजोंमें अनुगत है, अर्थात् सब चीजें मृत्तिकामय हैं, मृत्तिकाके अतिरिक्त घड़ा सिकोड़ा आदिमें और कुछ नहीं है, नाम, रूप अनेक प्रकारके कल्पित हैं. अतः नाम, रूप मिथ्या हैं मृत्तिकाही सत्य है।

घट, शराव (सरवा) आदि वस्तुएँ मिट्टीसे उत्पन्न होती हैं और उसी मिट्टीमें स्थित रहती हैं तथा भंग (टूट) जानेसे पुनः मिट्टीमें ही लीन हो जाती हैं अतः घट, शराव आदि वस्तुओंका मृत्तिका उपादान कारण है।

इसी प्रकार संसारकी वस्तुओंके असंख्य भिन्न, भिन्न नाम,रूप होनेपर भी सब वस्तुओंका उपादान कारण एक ही ब्रह्म है, दूसरा कोई नहीं है।

और जैसे—घड़ाबनानेवाला कुम्हार घड़ेका निमित्त कारण है, क्योंकि वह घटके उपादान कारणको भी जानता है और उपादान कारणको जाननेवाला निमित्त कारण ही होता है, इसी प्रकार जगतका निर्माण करनेवाला ब्रह्म ही जगतका निमित्त कारण भी है, अन्य कोई नहीं है। वह जगतका उपादान कारण होते हुए निमित्त कारण भी हैं। 'तदैक्षत बहुस्यांसोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय' अर्थात् उसने संकल्प किया कि—मैं बहुत बनूं, और उसने कामना की कि मैं बहुत रूपसे उत्पन्न होऊं" इस प्रकारकी श्रुतियोंके विवेचनसे उभय प्रकार के कारण एक ही ब्रह्म सिद्ध होते हैं। क्योंकि संकल्प करना चेतनका धर्म है जड़का धर्म नहीं हो सकता है अतः प्रकृति, परमाणु आदि

अचेतन पदार्थ जगतके निमित्त कारण नहीं हो सकते हैं किन्तु चेतन ब्रह्म ही जगतका 'निमित्तकारण' हो सकते हैं। तथा संकल्प करके स्वयम् बहुत रूपसे (जगतके असंख्य रूपसे) बनना (परिणत होना) यह चेतनका ही धर्म हो सकता है। अचेतन मिट्टी संकल्प (इच्छा) करके स्वयम् घट, शराव रूपसे परिणत नहीं होती है। अतः चेतन ब्रह्म ही इस जगतका 'उपादान कारण' हो सकते हैं अचेतन परमाणु, प्रकृति आदि नहीं हो सकते हैं।

इस प्रकार 'जगतका अभिन्न निमित्तोपादान कारणत्व' ब्रह्मका तटस्थ लक्षण सिद्ध होता है "जगत्कर्तृत्वेसति जगदुपादानत्वम्" अर्थात् जगतके कर्त्ता (निमित्त कारण) होते हुए जगतका उपादान कारण होना' यह ब्रह्मका तटस्थलक्षण है। इस लक्षणमें एकभी दोष नहीं होता है।

लक्षणके तीन प्रकारके दोष होते हैं। (१) अव्याप्ति (२) अतिव्याप्ति (३) असंभव। किसी प्रकारके दोष-युक्त लक्षण मान्य नहीं हैं।

लक्षण

जो धर्म (पहचान) लक्ष्य मात्रमें रहे अर्थात् उसके जितने लक्ष्य हैं उन सबोंमें रहे किन्तु अपने लक्ष्यसे अतिरिक्त वस्तुमें न रहता हुआ लक्ष्यका परिचायक हो, उसे 'लक्षण' कहते हैं।

जैसे—गोजातिका 'सास्ना' लक्षण है, क्योंकि सास्ना (गल कंबल) अर्थात् जो गर्दनके नीचे लटका हुआ मांस भाग है, वह गो-जाति मात्रमें रहती है, वही गो-जातिका परिचायक है।

गाय या बैलसे भिन्न महिष (भैंस) आदि पशुओंमें नहीं है, अतः गो जाति मात्रका 'सास्ना' लक्षण है।

'गो-जाति' कहनेसे गाय, बैल, सांढ़, बछड़ा, बछड़ी सबोंका ग्रहण होता है।

लक्ष्य

जिस वस्तुका लक्षण किया जाय, और उस लक्षणसे वह युक्त हो उसे 'लक्ष्य' कहते हैं।

गो-जातिका 'सास्ना' लक्षण किया गया है और उस लक्षणसे गो-जाति युक्त है अतः सास्नारूप लक्षणका गो-जाति लक्ष्य है।

अव्याप्ति

जो लक्षण लक्ष्यके एक देश मात्रमें रहे अशेष (बिलकुल) लक्ष्य-में न रहे उस लक्षणमें 'अव्याप्ति' नामका दोष कहा जाता है।

यदि गो जातिका 'नीलवर्ण' लक्षण किया जाय तो नील वर्ण (काला रङ्ग) अशेष गो-जातिमें नहीं है, केवल काले रङ्गकी गो-जातिमें है किन्तु श्वेतवर्ण या कपिलवर्णकी गो-जातिमें नहीं है, और काली गो-जातिसे भिन्न वर्ण (रङ्ग) की भी गो जाति होती है, अतः 'गो' का नील रूप लक्षणकरना अव्याप्ति दोपसे युक्त है।

अतिव्याप्ति

जो लक्षण अपने अशेष लक्ष्यमें भी रहे और अपने लक्ष्यसे अन्यमें भी रहे उस लक्षणमें 'अतिव्याप्ति' दोष कहा जाता है। यदि गो-जातिका शृंग (सींग) लक्षण किया जाय तो वह लक्षण अपने लक्ष्य अशेष गो-जातिमें रहता है, क्योंकि सींग समस्त गो-जातिमें

रहती है और उससे भिन्न महिष, (भैंस) बकड़े आदिमें भी रहती है, अतः उस लक्षणमें अतिव्याप्ति नामका दोष कहा जाता है। इसलिये गो-जातिका शृंग (सींग) लक्षण नहीं कहा जा सकता है।

असम्भव

जो लक्षण अपने एक भी लक्ष्यमें न रहे उस लक्षणमें 'असम्भव' दोष कहा जाता है। जैसे—गो-जातिका 'एक शफ' (एक खुर) लक्षण किया जाय तो उसमें असंभव दोष हो जाता है, क्योंकि वह लक्षण अपने किसी लक्ष्यमें नहीं रह सकता है। किसी गो-जातिमें एक खुर नहीं होता है किन्तु प्रत्येक गो-जातिके चार खुर होते हैं। उपर्युक्त तीन प्रकारके दोष नहीं रहनेके कारण "जगत्कर्तृत्वे सति जगदुपादानत्वम्" यह ब्रह्मका तटस्थ लक्षण निर्दुष्ट है।

यदि "जगदुपादान कारणत्व" इतना ही ब्रह्मका लक्षण किया जाय तो मायामें लक्षणके प्रविष्ट होजानेसे लक्षणमें 'अतिव्याप्ति' दोष हो जाता है। माया इस जगतका उपादान कारण है। क्योंकि वह इस जगत्‌रूपसे परिणत होती है।

यदि "जगन्निमित्त कारणत्व" इतनाही ब्रह्मका लक्षण किया जाय तो न्याय मतके अङ्गीकृत ईश्वरमें ब्रह्म-लक्षण प्रविष्ट हो जानेसे लक्षणमें 'अतिव्याप्ति' दोष हो जाता है। क्योंकि न्याय मतमें ईश्वर जगतका केवल निमित्त कारण माना गया है।

अतः "जगदुपादान तथा जगन्निमित्त कारणत्व" इतना कहनेसे ब्रह्मके लक्षणमें दोषका निवारण होता है।

और यह जो कथन किया गया था कि उपादान कारण तथा

निमित्त कारण एक नहीं होता है। दोनोंका भेदही लोकमें सबे
है। "दृष्टवदृष्ट कल्पना" अर्थात् दृष्ट (प्रत्यक्ष) के अनुसार
(अप्रत्यक्ष) वस्तुकी कल्पना करनी चाहिये' यह आक्षेप भी अ
है। क्योंकि लोकमें भी कहीं दोनों कारण एकही पदार्थ होत
जैसे–ऊर्णनाभिजन्तु (मकड़ी) तन्तुरूप (सूत) कार्यके प्रति
उपादान कारण है, क्योंकि मकड़ीके शरीरसे ही मकड़ीका तन्तु
है। और मकड़ी ही उसे बनाती है, अतः कर्त्तारूप निमित्तकारण
उस तन्तुके प्रति मकड़ी ही स्वयम् है, इस प्रकार अभिन्न निमित्त
दानकारण एक पदार्थ भी दृष्ट है। न्याय मतमें घट और ईश्वर
दोनोंका जो संयोग होता है वह संयोगरूप कार्य समवाय सम्बन्
घट और ईश्वर दोनोंमें उत्पन्न होता है, क्योंकि संयोग द्विष्ठ है अ
दोमें उत्पन्न होता है, अतः संयोगका उपादान कारण ईश्वर होते
क्योंकि ईश्वरमें भी संयोग समवाय सम्बन्धसे उत्पन्न होता है।
और ईश्वर कार्यमात्रके प्रति स्वतन्त्ररूपसे निमित्त कारण भी म
गये हैं, अतः एक ही ईश्वर, संयोगरूप कार्यका उपादान कारण औ
निमित्त कारण भी होते हैं। इसी प्रकार अभिन्ननिमित्तउपादान कार
अर्थात् एक ही ब्रह्म जगतका निमित्त तथा उपादान कारण होते हैं
इसके प्रमाणस्वरूप भगवती श्रुति "यतोवाइमानि भूतानिजायन्ते
इत्यादि, तथा व्यास भगवानका सूत्र "जन्माद्यस्य यतः" अर्थात् इ
जगतके जन्म, स्थिति, लय जिस सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान् पुरुषसे होते
वही ब्रह्म है" इस प्रकार अनेकानेक प्रमाण हैं। ब्रह्मके तटस्थ
लक्षणका ज्ञान होनेपर भी ब्रह्मके यथावत् स्वरूपका ज्ञान नहीं

होता है, अतः ब्रह्मका स्वरूपलक्षण जानना अत्यन्त आवश्यक है।

स्वरूप लक्षण

"स्वरूपं सत् व्यावर्त्तकंस्वरूपलक्षणम्" जो लक्षण अपने लक्ष्यका स्वरूप हो, और व्यावर्त्तक हो, अर्थात् अपने लक्ष्यको दूसरे पदार्थोंसे भिन्न रखे उस लक्षणको स्वरूपलक्षण कहते हैं। जैसे—पृथिवीका पृथिवीत्व जो लक्षण है, वह स्वरूपलक्षण है। क्योंकि-न्याय और वैशेषिक से भिन्न मतोंमें जाति और व्यक्तिका अभेद माना जाता है, अतः पृथिवीत्व जातिका पृथिवी व्यक्तिसे अभेद है इस प्रकार पृथिवीत्व जाति पृथिवीका स्वरूप भी है और पृथिवीको जल आदि इतर पदार्थोंसे व्यावर्त्तक (भेदक) भी होती है। इसलिये पृथिवीत्व पृथिवीका स्वरूप लक्षण सिद्ध होता है।

प्रकृतमें सत् (सत्य) चित् (ज्ञान) आनन्द यह तीनों मिलकर ब्रह्मके स्वरूपलक्षण हैं। क्योंकि सत्य, ज्ञान, आनन्द यह तीनों ब्रह्मके स्वरूप हैं और असत्, जड़, दुःखरूप जगतसे व्यावर्त्तक हैं अर्थात् जगतसे अपने लक्ष्य ब्रह्मको भिन्न रखते हैं।

शंका—लक्ष्य-लक्षणभाव दो भिन्न पदार्थोंमें रहते हैं, एक वस्तुमें नहीं रहते हैं, अतः लक्ष्य-लक्षणभाव भेदके अधीन हैं, अभेद होनेसे लक्ष्य-लक्षण भाव नहीं होते हैं। इसलिये सत्, चित्, आनन्द यदि ब्रह्मके स्वरूप ही माने जायं तो उन सत्, चित्, आनन्दमें ब्रह्मका लक्षण भाव (लक्षणपना) सिद्ध नहीं होता है और उन लक्षणोंका ब्रह्ममें लक्ष्यभाव (लक्ष्यपना) नहीं हो सकता है।

समाधान—यद्यपि सत्यादिक लक्षण ब्रह्मके स्वरूप ही हैं वास्तव

में, इन सत्यादि लक्षणोंसे ब्रह्मका भेद नहीं है। तथापि उन स
लक्षणोंसे ब्रह्मका कल्पित भेद स्वीकृत है, कल्पित भेदको अ
करके ही ब्रह्म और सत्यादि धर्मोंमें लक्ष्य-लक्षण भाव सिद्ध हो
जैसा कहा गया है कि 'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति
धर्माः ब्रह्मणोऽपृथक्त्वेऽपि पृथगिवावभासन्ते" अर्थात् आ
ज्ञान, नित्यता यह तीनों धर्म वास्तवमें ब्रह्मके स्वरूप हैं,
पृथक् नहीं हैं तो भी ब्रह्मसे पृथक् की तरह प्रतीत होते हैं।

शंका—यदि सत्यादि धर्म वास्तवमें ब्रह्मसे पृथक् नहीं हैं तो
ब्रह्मसे पृथक् होकर प्रतीत होते हैं।

समाधान—अन्तः करणरूप और अन्तःकरणके धर्मरूप उपा
कारण उन सत्यादि धर्मोंकी ब्रह्मसे पृथक् होकर प्रतीति होती है। क्यो
"बाधाभावविशिष्ट चैतन्य" 'सत्' पदका वाच्य अर्थ है
वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य ज्ञानपदका वाच्य अर्थ है तथा प्रीत्याकारवृ
वच्छिन्न चैतन्य आनन्द पदका वाच्य अर्थ है। इस रीतिसे
सत्यादि धर्मोंका, ब्रह्मसे वास्तवमें अभेद होनेपर भी उपाधि-कृत
होनेसे लक्ष्य-लक्षण भाव हो सकते हैं। भाग-त्यागलक्षणासे साधि
आनन्द पदोंका एक ही अर्थ शुद्ध, अखण्ड ब्रह्म होता है। इसलि
सत्यादि धर्मोंका और ब्रह्मका गुण-गुणिभाव भी वास्तवमें नहीं
सकता है। और उन सत्यादि पदोंके वाच्य अर्थ भिन्न भिन्न हैं तो
के एक नहीं है। अतः पर्यायता दोष (पुनरुक्ति) नहीं हो सकता है।

यदि 'सत्यं ब्रह्म' इतना ही स्वरूप लक्षण किया जाय तो न्याय
मतमें जो सत्ता नामकी जाति मानी गयी है वह उनके मतसे सत्य

अतः उसमें ब्रह्म-लक्षण प्रविष्ट हो जानेसे ब्रह्ममें अचेतनत्व (जड़-
।) सिद्ध हो जाता है इस अतिव्याप्ति दोषका निराकरण करनेके लिये
णमें 'ज्ञान" पदका समावेश है। ज्ञान (चैतन्यस्वरूप) सत्ता जाति
ं है। उसमें जाड्य है अतः उसमें लक्षण प्रविष्ट नहीं होता है।

यदि 'ज्ञान ब्रह्म' इतना ही ब्रह्मका लक्षण किया जाय तो न्याय-
में तो ज्ञानगुण आत्मामें उत्पन्न होता है उस अनित्य ज्ञानमें भी
ण-प्रविष्ट हो जानेसे लक्ष्य-ब्रह्ममें अनित्यत्व सिद्ध हो जाता है,
ाम् पुरुषार्थत्व भी लक्ष्यरूप ब्रह्ममें सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि
त्य ज्ञानरूप ब्रह्मकी प्राप्ति जिज्ञासुको अभिलषित नहीं है इस
ारके अतिव्याप्ति दोषके निवारणके लिये लक्षणमें "आनन्द, पदका
समावेश किया गया है। आत्मामें उत्पन्न होनेवाला ज्ञान-
को आनन्दरूप नहीं माना गया है अतः उसमें लक्षण प्रविष्ट नहीं
उकता है।

यदि "आनन्दो ब्रह्म" इतनाही लक्षण किया जाय तो विषय
। सुखमें भी लक्षण प्रविष्ट हो जाता है, और विषय-सुख अनित्य
जड़ होनेसे लक्ष्यरूप ब्रह्ममें जाड्य (अचेतनत्व) और अनित्यत्व
हो जाता है अतः लक्षणमें 'सत्' पदका समावेश है।

इस प्रकार ब्रह्मके स्वरूपलक्षणमें सत्यादि प्रत्येक पद सार्थक है
सत्य, ज्ञान, आनन्द यह तीनों मिलकर ब्रह्मके स्वरूप लक्षण
जाते हैं।

शंका—यदि प्रमाणसे सत्य, ज्ञान, आनन्दरूप ब्रह्म सिद्ध हो तो
ादि पद ब्रह्मके स्वरूप लक्षण हो सकें और यदि ब्रह्मको सत्यरूप,

ज्ञानरूप, आनन्दरूप, प्रमाणोंके द्वारा सिद्ध न किया जाय तो सत्यादि पद ब्रह्मके स्वरूपलक्षण नहीं हो सकते हैं।

समाधान—ब्रह्मकी सच्चिदानन्दरूपकी सिद्धिके लिये अनेकानेक श्रुति, स्मृति और व्यास भगवानके सूत्र प्रमाण हैं। श्रुति 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म आनंदो ब्रह्म" अर्थात् ब्रह्म सत्यरूप है, ज्ञानरूप है तथा अनन्तरूप है और आनन्दरूप है। अन्तका अर्थ परिच्छेद होता है, उससे जो रहित (शून्य) है उसे अनन्त कहते हैं। परिच्छेद तीन प्रकारके होते हैं (१) देश-परिच्छेद (२) काल-परिच्छेद (३) वस्तु-परिच्छेद। ब्रह्म व्यापकरूपसे सब देशमें है, उनका अस्तित्व प्रत्येक जगह है, अतः देश-कृतपरिच्छेद (इयत्ता) ब्रह्ममें नहीं है, अर्थात् ब्रह्मका अस्तित्व इस स्थानमें है और इस स्थानमें नहीं है इस प्रकार किसी देश .(स्थान) के द्वारा ब्रह्मकी अवधि (सीमा) नहीं है अतः ब्रह्म देश-कृतपरिच्छेद शून्य है।

ब्रह्म नित्य है अर्थात् तीनों कालमें ब्रह्मका अस्तित्व रहता है अतः काल-कृत परिच्छेद भी ब्रह्ममें नहीं है।

त्रिलोकीके समस्त पदार्थों (वस्तुओं) के स्वरूप ब्रह्म ही हैं। वास्तवमें ब्रह्मसे भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं है, जो कुछ नाम-रूपात्मक जगत् भासित होते हैं,सब ब्रह्ममें ही कल्पित हैं। और जो जिसमें कल्पित रहता है वह उसका स्वरूप ही दर असल रहता है। सिर्फ दूसरे रूपसे भासित मात्र तब तक होता रहता है जब तक उसके वास्तव स्वरूप अधिष्ठानका निश्चय नहीं होता है, इस लिये ब्रह्ममें वस्तु-कृत परिच्छेद भी नहीं है।

इस प्रकार ब्रह्म त्रिविध परिच्छेद-रहित हैं। और यह जगत् उक्त परिच्छेद-सहित है, क्योंकि इस जगतकी एक भी वस्तु व्यापक नहीं है। जगतके परे जो ब्रह्म हैं वहां आकाश, काल, दिशाओंका भी अस्तित्व नहीं रहता है। अतः आकाश आदि भी आपेक्षिक (अपेक्षाकृत) व्यापक कहे जाते हैं, वास्तव व्यापक नहीं हैं।

जगतकी किसी घट-पटादि वस्तुकी अपेक्षा आकाशादि व्यापक हैं, ब्रह्मकी अपेक्षा व्यापक नहीं हैं, अतः जगत् देश-कृत परिच्छेद-युक्त है।

तथा इस जगतके कोई भी पदार्थ नित्य नहीं हैं सब अनित्य हैं क्योंकि समाधि अवस्थामें जगतके पदार्थ भासित नहीं होते हैं। आत्म-ज्ञान होनेसे इस जगतका बाध हो जाता है, अतः यह जगत् काल-कृत परिच्छेद-युक्त है।

तथा यह नाम-रूपात्मक जगत् अनन्तप्रकार के हैं। जगतके असंख्य पदार्थ हैं, अतः वस्तु-कृत परिच्छेद-युक्त हैं।

इस प्रकार यह समस्त जगत् देश-परिच्छिन्न (व्याप्य) है और काल-परिच्छिन्न (अनित्य) है तथा वस्तु-परिच्छिन्न (अनेक) है।

ब्रह्म उक्त त्रिविध परिच्छेद-रहित है, अर्थात् व्यापक, नित्य, एक है। स्मृतिसे भी इसकी पुष्टि की गयी है—"व्यापित्वाद्देशतो ऽन्तोनित्यत्वान्नापि कालतः न वस्तुतोऽपिसार्वात्म्या दानन्त्यं ब्रह्मणित्रिधा" अर्थात् व्यापक होनेके कारण देशसे ब्रह्मका अन्त (परिच्छेद) नहीं है, नित्य होनेके कारण कालसे भी अन्त नहीं है,

ज्ञानरूप, आनन्दरूप, प्रमाणों के द्वारा सिद्ध न किया जाय तो सत्यादि पद ब्रह्मके स्वरूपलक्षण नहीं हो सकते हैं।

समाधान—ब्रह्मको सचिदानन्दरूपकी सिद्धिके लिये अनेकानेक श्रुति, स्मृति और व्यास भगवानके सूत्र प्रमाण हैं। श्रुति 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म आनंदो ब्रह्म" अर्थात् ब्रह्म सत्यरूप है, ज्ञानरूप है तथा अनन्तरूप है और आनन्दरूप है। अन्तका अर्थ परिच्छेद होता है उससे जो रहित (शून्य) है उसे अनन्त कहते हैं। परिच्छेद ३ प्रकारके होते हैं (१) देश-परिच्छेद (२) काल-परिच्छेद (३) व परिच्छेद। ब्रह्म व्यापकरूपसे सब देशमें है, उनका अस्तित्व प्रत्ये जगह है, अतः देश-कृतपरिच्छेद (इयत्ता) ब्रह्ममें नहीं है, क्य ब्रह्मका अस्तित्व इस स्थानमें है और इस स्थानमें नहीं है इस प्र किसी देश (स्थान) के द्वारा ब्रह्मकी अवधि (सीमा) नहीं है ह

इस प्रकार ब्रह्म त्रिविध परिच्छेद-रहित हैं। और यह जगत् क परिच्छेद-सहित है, क्योंकि इस जगतकी एक भी वस्तु व्यापक ही है। जगतके परे जो ब्रह्म हैं वहां आकाश, काल, दिशाओंका ी अस्तित्व नहीं रहता है। अतः आकाश आदि भी आपेक्षिक अपेक्षाकृत) व्यापक कहे जाते हैं, वास्तव व्यापक नहीं हैं।

जगतकी किसी घट-पटादि वस्तुकी अपेक्षा आकाशादि व्यापक ब्रह्मकी अपेक्षा व्यापक नहीं हैं, अतः जगत् देश-कृत परिच्छेद-क है।

तथा इस जगतके कोई भी पदार्थ नित्य नहीं हैं सब अनित्य क्योंकि समाधि अवस्थामें जगतके पदार्थ भासित नहीं होते हैं। त्म-ज्ञान होनेसे इस जगतका बाध हो जाता है, अतः यह जगत् ल-कृत परिच्छेद-युक्त है।

तथा यह नाम-रूपात्मक जगत् अनन्तप्रकार के हैं। जगतके संख्य पदार्थ हैं, अतः वस्तु-कृत परिच्छेद-युक्त हैं।

इस प्रकार यह समस्त जगत् देश-परिच्छिन्न (व्याप्य) है और ल-परिच्छिन्न (अनित्य) है तथा वस्तु-परिछिन्न (अनेक) है।

ब्रह्म उक्त त्रिविध परिच्छेद-रहित हैं, अर्थात् व्यापक, नित्य, हैं। श्रुतिसे भी इसकी पुष्टि की गयी है—"नव्यापित्वाद्देशतो तोनित्यत्वान्नापि कालतः न वस्तुतोऽपिसार्वात्म्या दानन्त्यं ह्मणित्रिधा" अर्थात् व्यापक होनेके कारण देशसे ब्रह्मका अन्त रिच्छेद) नहीं है, नित्य होनेके कारण कालसे भी अन्त नहीं है,

सबके स्वरूप होनेके कारण वस्तुसे भी अन्त नहीं है। इसलिये ब्रह्म तीन प्रकारके आनन्त्य (परिच्छेद शून्यता) हैं।

शङ्का—यदि काल-कृतपरिच्छेद-रहित वस्तुहीको ब्रह्म कह जाय तो न्याय मतके अनुसार परमाणु भी ब्रह्म हो जायं क्योंकि नैयायिकोंने परमाणुको भी नित्य (काल-कृत परिच्छेद-रहित) मान है। यदि वह "देश-कृत परिच्छेद-रहित भी हो" ऐसा कहें तो न्याय मतके अनुसार आकाश, काल, दिशा, और आत्मा ये सब व्यापक तथा नित्य भी हैं। अथच साख्यमतके अनुसार प्रकृति और पुरुष तथा मीमांसकके मतमें शब्द तथा आकाशादि नित्य तथा व्यापक (देश-कृत परिच्छेद-शून्य) माने गये हैं, अतः ये सब ब्रह्म हो जायं।

अतः ब्रह्मके लक्षणमें वस्तु-परिच्छेद-रहित भी कहा गया है। उक्त पदार्थ काल-कृत तथा देश-कृत परिच्छेदसे रहित होनेपर भी वस्तु परिच्छेदसे रहित नहीं हैं। क्योंकि इनके मतमें उपर्युक्त पदार्थ कोई एक नहीं माना गया है। नाना माने गये हैं। न्यायमें आकाशादि चार और साख्यमें प्रकृति, पुरुष दो, मीमांसकके मतमें शब्द जीवात्मा, आकाश, काल, दिशा, ये सब काल कृतपरिच्छेद-शून्य तथा देश-कृतपरिच्छेद-शून्य माने गये हैं। किन्तु ये सब वस्तु-कृत परिच्छेद शून्य नहीं माने जाते हैं।

इस प्रकार त्रिविध परिच्छेद-शून्य ब्रह्म ही होते हैं।

व्यास भगवानका सूत्र भी इसको पुष्टि करता है जैसे—"आनन्दादयः प्रधानस्य" अर्थात् आनन्द, सत्य, ज्ञान ये गुण

ब्रह्मके स्वरूप होकर ब्रह्मके परिचायक हैं अतः ब्रह्मके स्वरूप लक्षण कहे जाते हैं निर्गुण ब्रह्मके ध्यान करनेके लिये ही आनन्दादि स्वरूप ब्रह्मके गुण कहे गये हैं।

इस प्रकार गुण-गुणि भाव भी ब्रह्ममें कल्पित ही है, पारमार्थिक नहीं है। पूर्वोक्त रीतिसे प्रपञ्चके निमित्त तथा उपादान उभय कारण-स्वरूप जो ब्रह्म हैं वह 'तत्' पदका वाच्य अर्थ है। क्योंकि सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही तमोगुण-प्रधाना मायारूप उपाधिके कारण समस्त चराचर जगतका उपादान कारण होते हैं, और विशुद्ध सत्त्वगुण-प्रधाना मायारूप उपाधिके कारण जगतके निमित्त कारण (कर्त्ता) भी होते हैं, इस प्रकार प्रपञ्चके अभिन्न निमित्तोपादान कारणस्वरूप ब्रह्म 'तत्' पदका वाच्य अर्थ है।

तमोगुणप्रधाना माया तथा विशुद्धसत्त्वगुणप्रधाना मायारूप उपाधि भागका त्याग करके अद्वितीय ब्रह्म 'तत्' पदका लक्ष्य अर्थ है, यही वास्तव अर्थ है इसी अर्थका "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि श्रुतियों द्वारा प्रतिपादन किया गया है।

अद्वैत पदार्थका विवेचन

'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतिके द्वारा ब्रह्मको अद्वितीय कहा गया है।

अद्वितीय पदका द्वैत-रहित अर्थ होता है। द्वैत भेदको कहते हैं, भेद पांच प्रकारके होते हैं।

(१) जीव जीवका परस्पर भेद (२) जीव ईश्वरका परस्पर

भेद (३) जड़ जड़का परस्पर भेद (४) जड़ ईश्वरका भेद (५) जीव जड़का भेद।

इस प्रकार जड़, चेतनरूप प्रतियोगियोंके भेदसे भेद पांच प्रकारके होते हैं।

उक्त सब भेद कल्पित हैं, उन भेदोंसे जो रहित है उसे अद्वितीय कहते हैं।

और उक्त भेदरूप द्वैतके राहित्य (अभाव) को अद्वैत कहते हैं। अथवा भेद तीन प्रकारके होते हैं।

(१) सजातीय भेद (२) विजातीय भेद (३) स्वगत भेद।

सजातीय भेद

समान जातिकी वस्तुओंका जो परस्पर भेद है, उसे 'सजातीय भेद' कहते हैं।

एक वृक्षका दूसरे वृक्षोंके साथ जो भेद है वह सजातीय भेद कहा जाता है।

जैसे—वड़ वृक्षका जो नीम वृक्षके साथ भेद है, वह सजातीय भेद है, क्योंकि नीम और वड़ दोनों वृक्ष हैं, दोनोंमें वृक्षत्वजाति समान है, और दोनोंका भेद परस्पर है। ब्रह्मके समान जातिकी तो अन्य वस्तु नहीं है, अतः ब्रह्म सजातीय भेदसे रहित हैं।

क्योंकि ब्रह्ममें पारमार्थिक सत्ता, जगतमें व्यावहारिक सत्ता, और रज्जु-कल्पित सर्पमें, तथा शुक्ति-कल्पित रजतमें, एवं स्वप्नकी प्रतीत वस्तुमें प्रातीतिक (प्रातिभासिक) सत्ता मानी गयी है। वेदान्त दर्शनमें, पारमार्थिकसत्ता, व्यावहारिकसत्ता और प्रातिभासिकसत्तासे अतिरिक्त चौथी सत्ता अङ्गीकृत नहीं है।

विजातीय भेद

विलक्षण (भिन्न) जातिकी वस्तुओंका जो परस्पर भेद है उसे विजातीय भेद' कहते हैं।

जैसे—वृक्षमें घट, पट आदिका भेद है और घट, पट आदिमें वृक्षका भेद है, क्योंकि वृक्षकी और घट, पटकी जाति विभिन्न है, अतः इसका परस्पर भेद विजातीय भेद कहा जाता है।

ब्रह्मसे विभिन्न जातिकी कोई वस्तु परमार्थमें (दर असलमें) नहीं है। व्यावहारिक सत्ता-युक्त जगतभी परमार्थमें कल्पित ही है, यथार्थ नहीं, और कल्पित वस्तु अपने अधिष्ठानसे भिन्न नहीं है, अतः अधिष्ठान रूप ब्रह्मसे भिन्न जगत भी नहीं है।

और प्रातिभासिक सत्ता-युक्त वस्तु तो व्यवहारमें भी नहीं है,व्यवहार समयमें भी कल्पित ही है और कल्पितका कुछ स्वरूप नहीं है, अधिष्ठान रूप ही है अतः प्रपञ्चके अधिष्ठान भूत ब्रह्मसे भिन्न जाति की वस्तुओंका अभाव रहनेके कारण ब्रह्म विजातीय भेदसे रहित है।

स्वगत भेद

अपने अवयवोंसे जो भेद है उसे 'स्वगत भेद' कहते हैं।

जैसे—वृक्षमें पत्र, पुष्प, फलोंका जो भेद है वह स्वगत भेद है। "ब्रह्म निरवयव है" ब्रह्मके अवयव नहीं रहनेके कारण स्वगत भेद भी ब्रह्ममें नहीं है। ब्रह्मसे भिन्न सब वस्तु सावयव हैं, उनमें स्वगत भेद रहता है, किन्तु ब्रह्ममें अवयव, गुण, क्रिया, जाति तथा संबन्ध

कुछ भी नहीं हैं। जैसा श्रुतियोंमें कहा है—"निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्" असंगो ह्ययं पुरुषः" "साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च" इत्यादि।

उपर्युक्त त्रिविध भेद-रहितको अद्वितीय कहते हैं और उक्त त्रिविध भेद रूप द्वैत-राहित्य (द्वैत-अभाव) को अद्वैत कहते हैं।

अथवा जो वस्तु किसी प्रकारके अभावका प्रतियोगी न हो उसे अद्वितीय कहते हैं और 'अभावाप्रतियोगित्व' अर्थात् —"अभावका प्रतियोगी न होना" अद्वैत है। अभाव दो प्रकारके होते हैं।

(१) संसर्गाभाव (२) अन्योऽन्याभाव।

इनमें संसर्गाभाव चार प्रकारके होते हैं।

(१) प्रागभाव (२) प्रध्वंसाभाव (३) सामयिकाभाव (४) अत्यन्ताभाव।

प्रागभाव

जो अभाव अपने प्रतियोगीके उत्पन्न होनेके प्रथम क्षण तक अपने प्रतियोगीके उपादान कारणमें रहते हुए नियमतः प्रतियोगीकी उत्पत्तिसे ही विनष्ट हो उसे प्रागभाव कहते हैं।

प्रत्येक अभावका एक पदार्थ प्रतियोगी रहता है और एक पदार्थ (वस्तु) अनुयोगी रहता है। सादृश्य और संबन्धके भी अनुयोगी, प्रतियोगी होते हैं।

अभावका प्रतियोगी

जिस वस्तुका अभाव हो वह वस्तु उस अभावका 'प्रतियोगी' है

यहाँ यह रहस्य है कि प्रतियोगीके प्रागभाव तथा ध्वंसका जो अनाधार-काल है वही प्रतियोगीका आधार-काल है अर्थात् जिस समय प्रतियोगीका प्रागभाव और ध्वंस नहीं रहता है उस समय प्रतियोगी रहता ही है, अतः प्रागभाव और ध्वंसका अनाधार-काल ही प्रतियोगीका आधार काल होता है।

जैसे—घटरूप प्रतियोगीकी सत्ता-कालमें घटका प्रागभाव भी नहीं है तथा घटका ध्वंस भी नहीं है, अतः घट-प्रागभाव एवं घट-ध्वंसका जो अनाधार-काल है वही प्रतियोगीरूप घटका आधार-काल है, अर्थात् घट-प्रागभाव तथा घट-ध्वंसका नहीं रहना ही घटका रहना है। यदि प्रागभावकी उत्पत्ति (आदि) मानी जाय तो प्राग-भावकी उत्पत्तिसे पूर्वकालमें घटकी सत्ता रहनी चाहिये, क्योंकि उस समय घट-प्रागभाव नहीं है और घट-ध्वंस भी नहीं है जब घट-प्राग भाव उत्पन्न नहीं हुआ है तब घट-ध्वंसका नहीं रहना तो निश्चित ही है। और "घट-प्राग भाव तथा घट-ध्वंसका नहीं रहना ही घटका रहना है" यह तर्क सिद्ध है।

इस प्रकार घटकी सत्ता नहीं रहनेपर भी घट-प्रागभावकी उत्पत्ति से पूर्व कालमें घट-प्रागभाव तथा घट-ध्वंस नहीं रहनेके कारण घटकी सत्ता माननी होगी इस प्रबल असमञ्जसके निवारणके लिये प्रागभाव अनादि माना जाता है।

प्रध्वंसाभाव

जो अभाव अपने प्रतियोगीके उपादान कारणमें, प्रतियोगीके नष्ट होनेसे उत्पन्न हो उसे 'प्रध्वंसाभाव' कहते हैं।

प्रध्वंस रूप जो अभाव है वह प्रध्वंसाभाव है जैसे—'कपाले मुद्गरेण घटो ध्वस्तः' अर्थात् मुद्गलके प्रहारसे घटका ध्वंस कपालमें हुआ'

यहां प्रध्वंसरूप जो अभाव है वह अपने प्रतियोगी घटके उपादान कारण कपालमें ही रहता है तथा अपने प्रतियोगी घटके विनष्ट होनेसे ही उत्पन्न होता है अतः वह अभाव 'प्रध्वंसाभाव' कहा जाता है।

घट-प्रध्वंसाभावका घट प्रतियोगी है और कपाल अनुयोगी है। घटके उपादान कारणको 'कपाल' कहते हैं दो कपालोंके संयोगसे घड़ा बनता है। यद्यपि घटका मूल उपादान कारण तो मृत्तिका ही है किन्तु मृत्तिकासे कपाल बनकर दो कपालोंके संयोगसे घट उत्पन्न होता है, इस प्रकार घटका साक्षात् उपादान कारण कपाल है।

न्याय मतमें, उत्पन्न होनेके कारण प्रध्वंसाभाव सादि है और ध्वंसका ध्वंस नहीं होनेके कारण अनन्त (अन्त-रहित) है।

यहां यह रहस्य है कि यदि ध्वंसका भी ध्वंस मान लिया जाय तो "प्रतियोगीके प्रागभावका तथा ध्वंसका जो अनाधार काल है वही प्रतियोगीका आधार काल है" इस सिद्धान्तके अनुसार घट-ध्वंसके ध्वंस कालमें घट-प्रागभाव तथा घट-ध्वंस कुछ भी नहीं है अतःघटकी सत्ता माननी होगी, सो तो अभिलषित नहीं है।

क्योंकि घट-ध्वंसके ध्वंसकी सत्ता घटकी सत्ता नहीं है। भाव और अभाव विरुद्ध है, एक नहीं है अर्थात् घट-ध्वंसका ध्वंस भी अभाव-रूप है वह भावरूप घट नहीं हो सकता है किन्तु घट-प्रागभाव तथा घट-ध्वंसकी असत्ता घट सत्ता है।

शंका—जिस प्रकार प्रतियोगीके अभावका अभाव प्रतियोगी स्वरूप माना जाता है, अर्थात् घटके अभावके अभावको घटस्वरूप ही मानते हैं उसी प्रकार घटके ध्वंसका भी ध्वंस घटस्वरूप ही माना जाय तो विरोध निवारण हो सकता है !

समाधान—घट और घटका अभाव यह दोनों एक प्रदेशमें उत्पन्न नहीं होते हैं अर्थात् जिस प्रदेशमें घट उत्पन्न होता है उस प्रदेशमें घटाभाव उत्पन्न नहीं होता है, अतः 'घटाभावाभाव' अर्थात् घटके अभावका अभाव घट ही कहा जाता है।

और घट तथा घटका ध्वंस तो एक प्रदेशमें ही उत्पन्न होता है अर्थात् कपालरूप प्रदेशमें ही घट भी उत्पन्न होता है और कपालरूप प्रदेशमें ही घटका ध्वंस भी उत्पन्न होता है, क्योंकि ध्वंसका "प्रतियोगि-समवायि-देशनियतत्व" अङ्गीकृत है, अर्थात् ध्वंस अपने प्रतियोगीके समवायि कारण (उपादान कारण) में ही नियमतः उत्पन्न होता है और वहीं प्रतियोगी भी उत्पन्न होता है जैसे—घट भी अपने उपादान कारण कपालमें ही उत्पन्न होता है और घटका ध्वंस भी घटके उपादान कारण कपालमें ही उत्पन्न होता है अतः प्रतियोगीके ध्वंसका ध्वंस प्रतियोगी स्वरूप नहीं माना जाता है, किन्तु ध्वंस (अभाव) रूप ही माना जाता है। इसलिये ध्वंसका ध्वंस मान्य नहीं होता है। दोनों अभावोंके अर्थात् प्रागभाव और प्रध्वंसाभावके प्रतियोगी प्रत्यक्षहीके पदार्थ होते हैं। अब प्रतियोगी नहीं होते हैं, क्योंकि अबकी उत्पत्ति (जन्म) तथा विनाश (मरण) नहीं होता है। जैसे—न जायते म्रियते वा कदाचिन् 'तार्य आम-

मनन्तंब्रह्म' इत्यादि सत् शास्त्र ब्रह्मको उत्पत्ति और विनाशसे रहित नित्य स्वरूप प्रतिपादन करते हैं। और नित्य जो पदार्थ होते हैं उनका न कभी प्रागभाव होता है और न कभी प्रध्वंसाभाव होता है।

सामयिकाभाव

जो अभाव अपने प्रतियोगीके नहीं रहनेके समय उत्पन्न हो और प्रतियोगीके रहनेके समय विनष्ट हो जाय उस अभावको 'सामयिकाभाव, कहते हैं।

जैसे—'इदानीं भूतले घटोनास्ति' अर्थात् इस समय भूतलमें घड़ा नहीं है इस प्रतीति (शाब्दबोध) के द्वारा जो घटका अभाव ज्ञात होता है वह अभाव सामयिकाभाव है। जब भूतल (जमीन) पर अभावका प्रतियोगी जो घड़ा है वह नहीं रहता है तभी "घटोनास्ति" इस प्रकारका अभाव उत्पन्न होता है और अपने प्रतियोगी घड़ेके आजानेसे "घटोनास्ति" इस प्रकारका अभाव विनष्ट हो जाता है किन्तु उस समय उक्त अभावका विरोधी "घटोऽस्ति" इस प्रकारका भाव (अस्तित्व) उत्पन्न हो जाता है।

किसी समय रहने तथा किसी समय नहीं रहनेके कारण यह अभाव 'सामयिकाभाव' कहा जाता है। सामयिकाभाव सादि तथा सान्त है।

इसकी उत्पत्ति होती है। अतः सादि (आदि-सहित) है और इसका विनाश भी होता है अतः सान्त (अन्त-सहित) है। ब्रह्मसे भिन्न समस्त पदार्थ कभी रहते हैं और कभी नहीं रहते हैं अतः ब्रह्मको छोड़ अन्य सब वस्तुओंका सामयिकाभाव रह सकता है। और

सदा एक रूपसे रहनेके कारण ब्रह्म सामयिकाभावसे रहित है अर्थात् ब्रह्मका सामयिकाभाव नहीं होता है।

अत्यन्ताभाव

जिस अभावका प्रतियोगी कभी (त्रिकालमें भी) नहीं है उस अभावको 'अत्यन्ताभाव' कहते हैं।

जैसे— 'वायौ रूपं नास्ति' अर्थात् वायुमें रूप नहीं है, इस प्रकारकी प्रतीतिके द्वारा वायुमें जो रूपका अभाव ज्ञात होता है वह अत्यन्ताभाव कहा जाता है।

क्योंकि शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित् (हरा) कपिल (कबर) यह जो छः प्रकारके रूप हैं इनमेंसे एक भी रूप वायुमें कभी (त्रिकाल में भी) नहीं है अतः वायुमें रूपका अत्यन्ताभाव रहता है, तथा गन्ध का भी अत्यन्ताभाव है। कभी जो वायुमें गन्ध प्रतीत होता है वह खास वायुका नहीं है किन्तु पार्थिव गन्ध है, पार्थिव परमाणुओंके संमेलनसे वायुमें गन्ध प्रतीत होता है अतः सुरभि, (सुगन्धि) असुरभि (दुर्गन्धि) कुछ भी गन्ध वायुमें नहीं है।

न्याय मतमें अत्यन्ताभाव अनादि तथा अनन्त (अविनाशी) है।

अत्यन्त अर्थात् सर्वदा जो अभाव है वह अत्यन्ताभाव है।

समस्त जगतका अत्यन्ताभाव ब्रह्ममें है अतः अत्यन्ताभावका प्रतियोगी जगत् होता है, और ब्रह्मका कभी कहींपर अत्यन्ताभाव नहीं है अतः ब्रह्म, अत्यन्ताभावका भी प्रतियोगी नहीं है।

अन्योऽन्याभाव

एक वस्तुमें दूसरी वस्तुका जो परस्पर भेद है उसे 'अन्योऽन्या-

भाव कहते हैं। जैसे—'घटो न पटः' अर्थात् घट जो है सो पट नहीं है, इस प्रतीतिसे घट-प्रतियोगिक भेद (घड़े का भेद) पटमें ज्ञात होता है, तथा 'पटो न घटः' अर्थात् कपड़ा जो है सो घट नहीं है इस प्रतीतिसे पट-प्रतियोगिक भेद (पटका भेद) घटमें ज्ञात होता है।

इस प्रकार घटका भेद पटमें है और पटका भेद घटमें है, यह जो एक का दूसरे में भेद है वह अन्योऽन्याभाव कहा जाता है।

अन्योऽन्यमें अर्थात् परस्परमें जो परस्परका भेदरूप अभाव है। वह अन्योऽन्याभाव है। न्याय-मतमें अन्योऽन्याभाव अनादि तथा अनन्त (अविनाशी) है। संसारके समस्त पदार्थ एक दूसरेसे भिन्न हैं अतः उनका अन्योऽन्याभाव एक दूसरेमें रहता है, किंतु ब्रह्मसे अतिरिक्त और कोई वस्तु परमार्थमें नहीं है अतः ब्रह्मका अन्योऽन्याभाव भी नहीं हो सकता है। ब्रह्म-ज्ञानहोनेपर "संसार कल्पित है, सत्य नहीं है" ऐसा दृढ़ अपरोक्ष निश्चय अर्थात् संशय-विपर्यय-रहित साक्षात्कार रूप निश्चय होता है, फिर यह संसार मरु-मरीचिका के जलकी तरह प्रतीत होने लगता है, अर्थात् जिस प्रकार मरु (ऊसर) भूमिमें जो मरीचिका (सूर्यकी किरण) पड़ती है उस किरणमें जलकी भ्रान्ति लोगोंको होती है, किंतु भ्रांति होनेपर भी उस जल में लोगोंको मिथ्यात्वका दृढ़ निश्चय रहता है अतः कोई पुरुष जल लेनेके लिये उसकी ओर नहीं जाता है।

उसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञान हो जाने पर संसारके मिथ्यात्वका दृढ़ निश्चय हो जाता है, उस समय अद्वितीय ब्रह्म मात्र रह जाता है फिर

जिससे ब्रह्मका भेद हो, 'यत्र त्वस्य सर्व मात्मैवाभू तत्रको मोहः कः शोकः एक त्वमनुपश्यतः' 'द्वितीयाद्वै भयं भवति नेह कश्चिद्वितीयः' इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध है।

इस रीतिसे ब्रह्मका अन्योऽन्याभाव कल्पित ही है पारमार्थिक नहीं है।

अन्योऽन्याभावके जो पदार्थ प्रतियोगी होते हैं वह वाक्य-भेदसे अनुयोगी भी होते हैं। जैसे—'घटो न पटः' यहां अन्योऽन्याभावका घट प्रतियोगी है और 'पटो न घटः' इस प्रकार वाक्यके भेदसे अन्योऽन्याभावका घट अनुयोगी है।

अद्वैत ब्रह्ममें 'अनुयोगि-प्रतियोगि भाव' यथार्थ नहीं है।

द्वैतका अभाव भी ब्रह्ममें नहीं है किन्तु द्वैतका अभावस्वरूप ही ब्रह्म है, क्योंकि कल्पित वस्तुका अभाव उसका अधिष्ठान स्वरूप ही होता है, रज्जु-सर्पस्थलमें यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। द्वैत-युक्त समस्त प्रपञ्च कल्पित है अतः प्रपञ्चका अभाव प्रपञ्चका अधिष्ठान भूत ब्रह्म स्वरूपही है, ब्रह्मसे भिन्न नहीं है।

पूर्वोक्त रीतिसे द्वैतके-राहित्य (अभाव) को अद्वैत कहते हैं और उक्त द्वैत-रहित सच्चिदानंदस्वरूप ब्रह्मही 'तत्त्वमसि' महा वाक्यके 'तत्' पद का लक्ष्य अर्थ है वही ब्रह्मका स्वरूप लक्षण है। 'तत्' पदका वाच्य अर्थ, जगतका उपादान तथा निमित्त कारण स्वरूप ब्रह्म है, वह ब्रह्मके 'तटस्थ लक्षणके लक्ष्य है।

इस प्रकार 'तत्' पदका वाच्यार्थ ब्रह्म 'तटस्थ लक्षण-लक्ष्य होते हैं और 'तत्' पदका लक्ष्य अर्थ ब्रह्मका स्वरूप लक्षण होता है।

शंका—इस प्रकार ब्रह्मके स्वरूप लक्षण प्रतिपादन करनेसे पूर्वोक्त तटस्थ लक्षण असमञ्जसमें पड़ जाता है और **"वदतो व्याघातः"** इस लोकोक्तिका अनुसरण करता है। क्योंकि "उपादान कारणहोते हुए जगतका निमित्त कारण होना "यही ब्रह्मका तटस्थ लक्षण कहा गया है। उस लक्षणका प्रथम अंश **'उपान करणत्व'** भी अब ब्रह्ममें असंभव हो जाता है, क्योंकि आरम्भक 'परिणामी, विवर्त्ताधिष्ठान ये तीन प्रकारके उपादान कारण होते हैं।

आरम्भक

जो अनेक (एकसे अधिक) द्रव्य परस्पर संयुक्त होकर किसी नवीन वस्तुको उत्पन्न करें उन्हें **'आरम्भक'** कहते हैं।

जैसे—न्याय-मतमें अनेक परमाणु-रूप द्रव्य परस्पर संयुक्त होकर अपनेसे विलक्षण नवीन जगतको उत्पन्न करते हैं अतः परस्पर संयुक्त अनेक जो परमाणु हैं, वे इस जगतके आरम्भक कारण कहे जाते हैं।

जो नवीन पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे कार्य कहे जाते हैं और जो उत्पादक हैं वे कारण कहे जाते हैं।

न्याय, वैशेषिक और मीमांसा दर्शनका **आरम्भवाद** प्रसिद्ध है। और **'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं, 'अविकार्योऽयमुच्यते'** इत्यादि श्रुति, स्मृतियोंने ब्रह्मको निर्गुण, निष्क्रिय निरवयव कहा है अतः एक, तथा निरवयव,

निष्क्रिय होनेके कारण ब्रह्मका संयोग नहीं होनेसे ब्रह्म इस जगतका आरम्भक रूप उपादान कारण नहीं हो सकते हैं।

परिणामी

जो सावयव वस्तु अपने गुणों और अपनी सत्ताके साथ अपने कार्यमें परिणत होकर रहता हुआ का का उत्पादक हो उसे '**परिणामी**' कहते हैं।

जैसे—सावयव दुग्ध श्वेतरूप आदि गुणोंके तथा अपने व्यावहारिक सत्ताके साथ अपने दधिरूप कार्यमें परिणत होकर रहता हुआ दधिका उत्पादक होता है अतः दधिका परिणामी कारण दुग्ध है।

ब्रह्ममें अवयव, गुण, क्रिया, जाति कुछ भी नहीं रहनेके कारण ब्रह्म इस जगतका परिणामी कारण नहीं हो सकते हैं।

सांख्यदर्शन, पातञ्जल (योग) दर्शनका तथा पाशुपत और वैष्णव मतका परिणामवाद प्रसिद्ध है।

विवर्त्ताधिष्ठान

जो वस्तु अपनेसे विषम सत्ता युक्त वस्तु का उत्पादक होता हुआ उस वस्तुसे स्वयम् सदा निर्लेप रहे उसे '**विवर्त्ताधिष्ठान**' कहते हैं।

जैसे—रज्जुमें प्रतीत जो सर्प है उस सर्पकी प्रातिभासिक सत्ता है और उसके अधिष्ठानभूत रज्जुकी व्यावहारिक सत्ता है इस प्रकारके अपनेसे विषम-सत्ता-युक्त सर्पका उत्पादन रज्जु करता है,

क्योंकि उसमें ही कल्पित सर्पकी उत्पत्ति होती है और वह रज्जु त्रिकालमें ही उस सर्पसे निर्लेप है, अतः रज्जुमें कल्पित सर्पका रज्जु **'विवर्त्ताधिष्ठान कारण'** है।

विवर्त्तवाद वेदान्त दर्शनका प्रसिद्ध है। ब्रह्म इस जगतका विवर्त्ताधिष्ठान भी नहीं हो सकते हैं क्योंकि **'घटः सन्' 'पटः सन्'** अर्थात् घट है, पट है, इस प्रकारकी प्रतीति होनेके कारण यह जगत् सत्य रूपसे प्रत्यक्ष हो रहा है, और विवर्त वस्तुका कल्पित स्वरूप होता है, अतः जगतको विवर्त स्वरूप प्रतिपादन करनेमें कोई प्रमाण नहीं है। और जगतका विवर्त्त स्वरूप (मिथ्या स्वरूप) सिद्ध नहीं होनेपर ब्रह्मको विवर्त्ताधिष्ठान कहना नितान्त असङ्गत है।

इसी प्रकार ब्रह्मके तटस्थ लक्षणका द्वितीय अंश **'जगन्निमित्तकारणत्व'** भी असम्भव है, क्योंकि निमित्त कारण (कर्त्ता) चेतनको कार्यके उत्पादन करनेके अनुकूल **ज्ञान, इच्छा** तथा **प्रयत्न** रहना चाहिये और ब्रह्मरूप चेतनमें ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न कुछ भी धर्म नहीं माने जाते हैं। यदि ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न जगतके निमित्त कारणभूत ब्रह्ममें मान लिये जायँ तो उन ज्ञान आदि धर्मोंको नित्य अथवा अनित्य इन दोनोंमेंसे ही कुछ मानना पड़ेगा।

यदि नित्य मानें तो जगतकी उत्पत्ति नित्य रहनी चाहिये, कभी प्रलय नहीं होना चाहिये; क्योंकि इस समस्त जगतकी उत्पत्ति, **ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नों** के द्वारा ब्रह्मसे ही होती है और ब्रह्मके ज्ञान आदि धर्म सर्वदा रहनेवाले होंगे। इस प्रकार कारण-सामग्री रहनेपर

जगतकी रचनारूप कार्य भी सर्वदा ही होता रहेगा। ऐसा मानने
'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' 'नारायणेप्रलीयन्ते' आ
जगतके प्रलय बोधक शास्त्रोंका विरोध होगा। और यदि ब्रह्म
ज्ञान आदि धर्मोंको अनित्य मानें तो इस अनित्य जगतकी तरह
ज्ञानादि भी उत्पत्तिशाली कार्यरूप हो जाते हैं, क्योंकि जो अनित्
होता है वह उत्पत्तिशाली होता है तथा उत्पत्तिसे पूर्व उसकी असत्
भी निश्चित रहती है। और नित्य धर्मीका धर्म भी नित्य ही
रहता है, अत: नित्य ब्रह्मरूप आश्रय (धर्मी) के अनित्य ज्ञान आ
आश्रित (धर्म) नहीं हो सकते हैं।

इस रीतिसे **जगतका उपादान कारणत्व** तथा **जगतका निमित्त कारणत्व** इन दोनों अंशोंका ब्रह्ममें अभाव होनेसे **'अभिन्न निमित्तोपादानकारणत्व'** यह ब्रह्मका तटस्थ लक्षण असंभव है अर्थात् जगतकी उत्पत्ति, स्थिति, लयकी कारणतारूप तटस्थ लक्षण ब्रह्मका असंगत होता है, इसलिये कार्यरूप (उत्पत्ति-विनाश शाली) जगतका ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई कारण मानना समुचित है। उत्पत्ति-विनाशशाली पदार्थ कार्य कहा जाता है और इस जगतकी उत्पत्ति तथा विनाश देखा जाता है अत: यह जगत् कार्य है।

कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती है इसलिये सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणोंकी समान अवस्थाको, जिसे **मूल प्रकृति**, कहते हैं, सांख्य-मतके अनुसार इस जगतका कारण मानना संगत है।

क्योंकि सांख्य-सिद्धान्तमें मूल प्रकृतिका परिणाम होना स्वभाव माना गया है अतः परिणामशालिनी प्रकृतिका यह जगत् परिणाम रूप कार्य हो सकता है और प्रकृति इस जगतका परिणामी उपादान कारण हो सकती है, इस प्रकार कार्य-कारणभाव संगत हो सकता है।

वेदान्त दर्शनमें तो ब्रह्म-चेतन वस्तुतः निर्लेप, निर्विकार, अपरिणामी, अकर्त्ता माने गये हैं, अतः वह ब्रह्म इस जगतके कारण नहीं हो सकते हैं।

'तत्' पदका अर्थ विभाग

समाधान—'तत्' पदके अर्थ दो प्रकारके होते हैं (१) वाच्य (शक्य) (२) लक्ष्य

वाच्य (शक्य) अर्थ

जो अर्थ पदकी **'शक्ति-वृत्ति'** द्वारा जाना जाय उसे वाच्य अर्थ या शक्य अर्थ कहते हैं

जैसे--'घटः', इस पदका घड़ा अर्थ होता है; किन्तु कपड़ा अर्थ नहीं समझा जाता है। इस प्रकारके नियमित अर्थको समझानेकी जो पदमें अलौकिक शक्ति है उस शक्ति रूप वृत्ति-द्वारा घट पदका जो घड़ा अर्थ होता है और पट पदका वस्त्र अर्थ होता है वह वाच्य या शक्य अर्थ कहा जाता है।

लक्ष्य अर्थ

जो अर्थ पदकी **लक्षणा—वृत्ति** द्वारा जाना जाय उसे लक्ष्य अर्थ कहते हैं।

जैसे—'मण्डपं भोजय' अर्थात् मण्डपस्थ (मण्डपमें स्थित) पुरुषको भोजन कराओ।

मण्डप पदका वाच्य अर्थ गृह विशेष है, क्योंकि एक विशेष प्रकारके घरको मण्डप कहते हैं; किन्तु मण्डप गृह जड़ है, उसमें भोजन करनेकी शक्ति नहीं है अतः यहां मण्डप पदका 'मण्डपस्थ' अर्थात् 'मण्डपमें स्थित पुरुष' यह जो अर्थ होता है वह लक्ष्य अर्थ कहा जाता है।

अन्वयकी अनुपपत्ति या तात्पर्यकी अनुपपत्तिसे जहां वाच्य अर्थ संगत नहीं होता है वहां लक्ष्य अर्थ माना जाता है।

यहां 'मायामें उपहित चैतन्य' 'तत्' पदका वाच्य अर्थ है, और 'माया-रहित (मुक्त) शुद्ध चैतन्य' 'तत्' पदका लक्ष्य अर्थ है।

कहनेका तात्पर्य यह कि यद्यपि माया-रहित शुद्ध चैतन्य निर्विकार ब्रह्ममें जगतका उपादान कारणत्व संभव नहीं है; किन्तु मायारूप उपाधि-सहित ब्रह्ममें जगतका उपादान कारणत्व संभव है अर्थात् मायोपहित चैतन्य ही, जो तत्पदका वाच्य अर्थ है इस जगतका विवर्त्ताधिष्ठानरूप उपादान कारण होता है, आरम्भक या परिणामी रूप उपादान कारण नहीं होता है।

अधिष्ठानानन्यत्वेऽन्यथाभावो विवर्त्त इत्युदाहृतः

*अर्थात् अधिष्ठान वस्तुका अनन्यत्व रूपमें जो अन्यथा भाव है वह विवर्त्त कहा जाता है। जैसे रज्जु, शुक्ति आदि अधिष्ठानोंके

अवास्तव रूपसे (कल्पित रूपसे) ही सर्प, रजत रूप अन्यथा भाव (रूपान्तर) होते उसी प्रकार ब्रह्मरूप अधिष्ठानका ही रूपान्तर कल्पितरूप यह जगत् है, अतः यह जगत् ब्रह्मका विवर्त और ब्रह्म **विवर्ताधिष्ठान** हैं इस प्रकार कार्य-कारणभाव संगत होता है।

और यह जो आक्षेप किया गया था कि **"घटः सन्"** **"पटःसन्"** इस प्रकार घट, पट, आदिकी सत्ता प्रतीत होनेसे घट-पटात्मक जगतकी भी सत्ता स्थिर होती है और सत्ता (अस्तित्व) होनेसे यह जगत् कल्पित (मिथ्या) नहीं कहा जा सकता है क्योंकि सत् वस्तुका धर्म सत्ता है, असत् वस्तुका धर्म सत्ता नहीं है, और यदि जगत् सत् (सत्य) नहीं होता, तो उसकी सत्ता न होती, जगत् तो सत्य-रूपसे प्रतीत हो रहा है। अतः "सत्य जगतका विवर्त्ताधिष्ठान ब्रह्म नहीं हो सकता है" यह कहना भी वेदान्त-सिद्धान्तसे अनभिज्ञता प्रकट करना है। क्योंकि **"घटः सन्, पटः सन्"** अर्थात् घट है, पट है इत्यादि अनुभवों से तो घट-पट आदिके अधिष्ठान भूत चैतन्य ब्रह्मकी ही सत्यता प्रतीत होती है, घट, पट आदि जगतकी सत्यता (सत्ता) सिद्ध नहीं होती है अर्थात् उन अनुभवोंसे घट, पट आदिके अधिष्ठानकी सत्ता प्रतीत होती है, किन्तु **घट, पट** आदिकी सत्ता प्रतीत (ज्ञान) नहीं होती है, अतः उक्त अनुभव जगतके मिथ्यात्वका बाधक नहीं हो सकते हैं, अर्थात् जगतको सत्य नहीं कर सकते हैं।

और यह जो आक्षेप किया गया था कि "जगतको असत्य माननेमें कोई प्रमाण नहीं है" यह भी प्रलाप-मात्र ही है, क्योंकि

'नेहनानास्तिकिंचन' इत्यादि श्रुति ब्रह्मसे भिन्न सब प्रपञ्चका निषेध करती हुई जगतकी असत्यतामें पर्याप्त प्रमाण है।

और 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' यह वाचारम्भण नामसे प्रसिद्ध श्रुति तो स्पष्ट रूपसे, स्व स्वरसे साक्षात् (परम्परासे नहीं) जगतको मिथ्या कह रही है और उसके उपादान कारणको सत्य कह रही है।

अतः ब्रह्मको ही जगतका उपादान कारण मानना प्रमाण-सिद्ध है, क्योंकि 'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इस श्रुति-द्वारा जगतकी लय ब्रह्ममें ही कही जाती है। और जिसकी जिस वस्तुमें लय होती है, उसका वह वस्तु उपादान कारण ही है। जैसे घड़ेकी लय मृत्तिकामें होती है, अतः मृत्तिका घड़ेका उपादान कारण ही कही जाती है, उसी प्रकार श्रुति-प्रतिपादित जगतकी लयके आधार होनेसे ब्रह्मको इस जगतका उपादान कारण मानना सर्वथा संगत है।

और भी 'बहुस्यां प्रजायेय' इस श्रुतिने ब्रह्मका ही बहुत रूपसे होना प्रतिपादन किया है, अतः ब्रह्म ही इस जगतका उपादान कारण है। जैसे—मृत्तिका ही घट, शराव (सरवा) आदि बहुत रूपसे उत्पन्न हो जाती है यह लोकमें प्रत्यक्ष है। अतः ब्रह्मको जगतका उपादान कारण मानना समुचित है। और सांख्य-सिद्धान्तके अनुसार 'प्रकृति' को जगतके कारण माननेमें कोई भी श्रुति प्रमाण नहीं है; किन्तु उसके विरुद्ध ब्रह्मको जगतका उपादान कारण माननेके लिये अनुरोध स्पष्ट है।

यद्यपि—'आत्मनः आकाशः संभूतः' अर्थात् आत्मासे सबसे प्रथम आकाश उत्पन्न हुआ, इस श्रुतिपर दृष्टिपात करनेसे जगत्की उपादानता आत्मामें सिद्ध होती है, ब्रह्ममें नहीं, किन्तु 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' अर्थात् उस ब्रह्मने इस जगतकी सृष्टि करके वही इस जगतमें प्रवृष्ट हो गया, इत्यादि श्रुतियोंद्वारा ब्रह्म ही जीवात्मा होकर जगतमें प्रवृष्ट हुआ निश्चित होता है। इसलिये आत्मा ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, किन्तु वह ब्रह्म ही आत्मा है, अतः आत्मा जगतका उपादान कारण है, यह कहनेसे भी जगतकी उपादानता ब्रह्ममें सिद्ध होती है।

और 'तदैक्षत सोऽकामयनबहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध है कि जिसने ईक्षण (संकल्प) किया, जिसने कामनाकी, वही बहुत रूपसे बन गया। अतः सांख्य-सिद्धान्तके अनुसार प्रकृति इस जगतका उपादान कारण नहीं हो सकती है, क्योंकि ईक्षण और कामना करना चेतनका धर्म है, अचेतन (जड़) का नहीं है। प्रकृति अचेतन मानी गयी है। अतः जगतकी उपादानता प्रकृतिमें सिद्ध नहीं हो सकती है, किन्तु चेतन ब्रह्ममें ही सिद्ध होती है। और यह जो आक्षेप किया गया था कि इस जगतके कर्ता ब्रह्म नित्य हैं, अतः उनके ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न भी नित्य (सर्वदा) रहेंगे, तब सदैव जगतकी रचना होती रहनी चाहिये। कभी प्रलय नहीं होना चाहिये, क्योंकि जगतकी रचनामें अन्य कोई साधन तो नहीं है और कारण-सामग्री (कारण समुदाय) हो जानेसे कार्य

उत्पन्न हो जाता है, यह निश्चित है। यहां सर्वदा कारण-सामग्री रहने के कारण जगतकी रचनारूप कार्य, सर्वदा होना चाहिये, यह कथन भी युक्ति-शून्य है; क्योंकि **माया-रहित शुद्ध चैतन्य ब्रह्म** जो **'तत्'** पदका लक्ष्य अर्थ है उन्हें **ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न** कुछ भी नहीं है और न तो वह ब्रह्म जगतका उपदान कारण या निमित्त कारण होते हैं, किन्तु **माया-सहित चैतन्य ब्रह्म (ईश्वर)** ही जगतका उपादान कारण तथा निमित्त कारण माने जाते हैं, वह स्वयम् अनित्य हैं, क्योंकि मायाके अधीन हैं। अतः उनके धर्म, ज्ञान **इच्छा, प्रयत्न** भी जन्य (उत्पन्न) होनेसे अनित्य ही हैं। **"जीवेशावाभासेन करोति मायाचाविद्या च स्वयमेव भवति"** इस श्रुतिसे ईश्वर भी जीवकी तरह कल्पित सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार **'तत्'** पदका जो वाच्य अर्थ है वह ब्रह्मके **तटस्थ लक्षण** का लक्ष्य है और जो लक्ष्य अर्थ है वही **स्वरूप लक्षण** है।

और अविद्याका अभिमानी जो चेतन शरीरमें है; जिस चेतनको द्वैतका अभिमान हो रहा है, वह चेतन **'त्वम्'** पदका वाच्य अर्थ है उसीको **जाव** या **प्राज्ञ** कहते हैं।

जीवकी उपाधि **अविद्या** है और ब्रह्मकी उपाधि **माया** है।

शुद्ध सत्त्व गुणकी प्रधानतासे त्रिगुणात्मक प्रकृति ही **माया** कहलाती है। शुद्ध सत्त्व गुणप्रधाना प्रकृति या माया अनेक नहीं किन्तु एक है, अतः मायामें उपहित (प्रतिबिम्बित) ब्रह्म चैतन्य अर्थात् ईश्वर एक ही हैं, अनेक नहीं हैं।

मायाका ईश (ईश्वर) मायाके वशीभूत नहीं हैं; किन्तु माया ही ईश्वरके वशमें है, अतः वह सदा ईश (शासक) तथा मुक्त और सर्वज्ञ रहते हैं ।

· और त्रिगुणात्मक प्रकृति ही मलिन सत्त्वगुणकी प्रधानतासे **अविद्या** कहलाती है ।

मलिन सत्त्वगुणप्रधाना प्रकृति अर्थात् अविद्या अनेक (नाना) हैं ; क्योंकि उसकी मलिनता असंख्य प्रकारकी है, अतः उस मलिनताके असंख्य भेदसे जीव भी असंख्य हैं ।

अविद्याके अभिमानी जीव अविद्याके वशीभूत हैं ; किन्तु अविद्या जीवके वशमें नहीं है, अतः जीव सदा भोक्ता, (शास्य) तथा बद्ध और अल्पज्ञ रहते हैं ।

माया जगतका उपादान कारण है और माया-उपाधि युक्त चेतन जगतके कर्त्ता (निमित्त कारण) हैं । श्रुतियोंमें कहा है कि—
"मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम्" अर्थात् मायाको प्रकृति (उपादान कारण) और मायी (माया-उपहित-चेतन) को महेश्वर अर्थात् जगतका शासक (कर्त्ता) समझना चाहिये । यहांपर यह रहस्य है कि ईश्वरके दो अंश हैं
(१) माया (२) चेतन ।

ईश्वर अपने माया अंशसे इस जगतका उपादान कारण होते हैं और अपने चेतन अंशसे इस जगतका निमित्त कारण (कर्त्ता) होते हैं **"सभूरित्युक्त्वा भुवमसृजत्" "वेद शब्देभ्य एवादौनि-**

ममे स महेश्वरः'' अर्थात् उस परमात्माने 'भूः' इस प्रकार वेदके शब्दको उच्चारण करके पृथिवीको उत्पन्न किया और इस प्रकार **'आकाशः'** आदि वेदके शब्दको उच्चारण करके ही आकाश आदि सृष्टिको उत्पन्न किया इत्यादि श्रुति, स्मृति प्रमाणोंसे ईश्वर ही इस जगतके रचयिता (कारण) सिद्ध होते हैं और ईश्वर (सोपाधिक ब्रह्म) ही 'तत्' पदका वाच्य अर्थ है ।

जीव अविद्याके वशमें रहते हैं अतः बद्ध रहते हैं अर्थात् संसारी दुःखी; सुखी, सर्व-क्लेश-सम्पन्न रहते हैं माया तथा अविद्याके भेदसे ही श्रुतियोंमें कहीं-कहीं परमात्मा और जीवात्माका भेद कहा गया है । जैसे— **'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्'** अर्थात् एक ही परमात्मा जो नित्य और चेतन है सब जीवात्माओंकी कामनाको पूर्ण करता है, जीवात्मा भी नित्य और चेतन हैं'; किन्तु परमात्माके वशमें हैं, इत्यादि श्रुतियोंमें भी 'तत्' और 'त्वम्' पदके वाच्य अर्थके तात्पर्यसे ही जीवात्मा और परमात्माका भेद सिद्ध होता है ; क्योंकि वाच्य अर्थमें 'तत्' पदके द्वारा जगतका नियामक (शासक) अर्थात् ईश्वर ही समझा जाता है । और 'त्वम्' पदके द्वारा अविद्याके वशीभूत नियम्य (शास्य) अर्थात् जीव ही समझे जाते हैं ।

इस प्रकार कहीं-कहीं शास्त्रमें परमात्मा और जीवात्माका भेद उपलब्ध होनेपर भी यथार्थ (पारमार्थिक) भेद नहीं कहा जा सकता , भेद कल्पित ही सिद्ध होता है ; क्योंकि भेदके विरुद्ध

वास्तविक अभेद प्रतिपादन करनेमें ही सब श्रुतियोंका तात्पर्य प्रतीत होता है।

जैसे—'**प्रज्ञानं ब्रह्म**', '**अहं ब्रह्मास्मि**' '**तत्त्वमसि**' '**अयमात्मा ब्रह्म**' ये चार महावाक्य ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद इन चार वेदोंके क्रमसे हैं जो जीवात्मा और परमात्माके वास्तविक अभेदको सिद्ध करते हैं।

यह अभेद (एकता) '**तत्**' और '**त्वम्**' पदके लक्ष्य अर्थको स्वीकार करनेसे सिद्ध होता है अतः '**तत्**' '**त्वम्**' पदके लक्ष्य अर्थका विचार करना ही **अद्वैत-विचार है।**

श्रुतियोंमें जिस प्रकार भेद (द्वैत) की निन्दा की गयी है जैसे—'**द्वितीयाद्वै भयं भवति**' इत्यादि। उस प्रकार अभेद (अद्वैत) की कहीं श्रुतियोंमें निन्दा नहीं की गयी है अतः जीवात्मा और परमात्माका वास्तव अभेद है और भेद कल्पित है,यही श्रुतियों-का तात्पर्य सिद्ध होता है। यह अभेद **तत्** और '**त्वम्**' पदका लक्ष्य अर्थ है। जो वास्तव अर्थ है।

जिज्ञासु पुरुष ब्रह्मनिष्ठ गुरुके द्वारा सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्रका यथावत् अध्ययन (श्रवण) करके पुनः उस पठित अर्थका युक्तियों-द्वारा विचार कर उसकी प्रामाणिकता निश्चित करता है, फिर उस निश्चित वस्तुका आदरसे दीर्घकाल पर्यन्त निरन्तर अभ्यास कर-नेसे साक्षात्कार करता है यही साक्षात्कार '**तत्**' '**त्वम्**' पदोंके **लक्ष्यार्थकी प्राप्ति या अद्वैतकी प्राप्ति है।**

इति 'तत्' 'त्वम्' पदार्थ-विचारात्मक तृतीय रत्न समाप्त।

चतुर्थ रत्न

जगतका उपादान कारण तथा निमित्त कारण (कर्त्ता) जो माया-उपहित चेतन है उसको जाननेके लिये मायाको जानना आवश्यक है अतः मायाका निरूपण करते हैं।

मायाका निरूपण

शंका— १ माया अचेतन (जड़) रूप है, ऐसा शास्त्रोंमें कहा है तो उस अचेतन मायाका स्वरूप क्या है ?

२ मायाका लक्षण क्या है अर्थात् माया किसको कहते हैं ? मायाके अङ्गीकार करनेमें प्रमाण क्या हैं ?

मायाका स्वरूप

समाधान—मायाका स्वरूप त्रिगुणात्मक है अर्थात् सत्त्व, रज, तम यही तीन गुण मायाके स्वरूप (आत्मा) हैं, क्योंकि मायासे उत्पन्न (मायाका परिणाम) इस जगतके समस्त पदार्थमें सुख, दुःख मोह ये तीन गुण प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, जगतकी प्रत्येक वस्तु सुख-दुःख-मोहात्मक है क्योंकि एक ही वस्तुसे कभी सुख कभी दुःख और कभी मोह उत्पन्न हो जाता है।

और यह सुख, दुःख, तथा मोह क्रमसे सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणोंके ही परिणाम (रूपान्तर) हैं अर्थात् सत्त्वगुणका परिणाम सुख है, रजोगुणका परिणाम दुःख है और तमोगुणका परिणाम मोह है।

मायाका कार्य (मायाका परिणाम) जो यह समस्त जगत् है वह त्रिगुणात्मक अर्थात् सुख-दुःख-मोहात्मक देखाजाता है, अतः उसका कारण माया भी त्रिगुणात्मक ही हो सकती है, क्योंकि कारण (उपादान) क समान स्वभावका ही कार्य होता है यह निश्चित है।

सत्त्व, रज, तम गुणोंका अपने कार्य सुख, दुःख, तथा मोहसे अभेद है, क्योंकि वेदान्त-सिद्धान्तमें कार्य-कारणका अभेद माना गया है।

इस प्रकार मायाका त्रिगुणात्मक स्वरूप सिद्ध है। "अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णाम्" यह श्रुति भी मायाका त्रिगुणात्मक स्वरूप प्रतिपादन करती है।

माया (अज्ञान (का लक्षण

"सद्विलक्षणत्वे सति असद्विलक्षणमज्ञानम्"

जो पदार्थ सत् वस्तुसे और असत् वस्तुसे विलक्षण हो उसे माया या अज्ञान कहते हैं, अर्थात जो वस्तु सत् भी न हो और असत भी न हो। यदि अज्ञानको सत् (जिसका कभी नाश न हो) मानें, तो सत्य ब्रह्मकी तरह इसका नाश नहीं होना चाहिये, तब ब्रह्म-ज्ञान द्वारा इसका नाश शास्त्रोंमें जो कहा गया है वह असङ्गत होता है अतः अज्ञानका सत् रूपसे निरूपण नहीं हो सकता है। और यदि अज्ञानको असत् (जिसका अस्तित्व नहीं है) मानें तो असत् जो वंध्या-पुत्र आकाश-पुष्प आदि हैं उन्हींकी तरह अज्ञानका भी प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये

और अज्ञानका प्रत्यक्ष होता है क्योंकि **'ब्रह्म को नहीं जानता हूँ'** इस प्रकारकी जो प्रत्यक्ष (अनुभवात्मक) प्रतीति होती है उस प्रतीतिसे मुझे ब्रह्मका अज्ञान है" यही समझा जाता है इस प्रकार अज्ञानका प्रत्यक्षात्मक ज्ञान संसारी पुरुषोंको हो रहा है अत: अज्ञानका असत् रूपसे भी निरूपण नहीं हो सकता है। एक ही वस्तुको **अविद्या, माया, अज्ञान, प्रकृति, शक्ति** इत्यादि नामोंसे कहते हैं। विद्यासे इसका नाश होता है इसलिये इसका नाम **अविद्या** है।

ज्ञानसे इसका नाश होता है इसलिये इसका नाम **अज्ञान** है। और यह अघटित घटना-पटीयसी है अर्थात् तर्कमें नहीं आनेवाली वस्तु इस अज्ञान से उत्पन्न होती है अत: इसका नाम **माया** है।

यह जगतका उपादान कारण है इसलिये इसका नाम **'प्रकृति'** है।

स्वतन्त्रताके अभावसे अर्थात् स्वतन्त्र न होनेके कारण इसका नाम **'शक्ति'** है, शक्ति सदैव अन्यके आश्रित होकर रहती है।

और सत् और असत्से विलक्षण होनेके कारण इसको **'अनिर्वचनीय'** कहते हैं।

यदि **'सद्विलक्षणमज्ञानम्'** इतना ही अज्ञानका लक्षण किया जाय तो सत् ब्रह्मसे विलक्षण (अर्थात् जो सत् नहीं है) वन्ध्या-पुत्र आदिमें अज्ञानका लक्षण प्रविष्ट हो जानेसे लक्षणमें अतिव्याप्ति नामका दोष हो जाता है इसलिये लक्षणमें **'असद्विलक्षणम्'** यह पद भी कहा गया है।

और यदि 'असद्विलक्षणमज्ञानम्' इतना ही अज्ञानका लक्षण किया जाय तो वन्ध्या-पुत्र आदि असत् वस्तुसे विलक्षण (भिन्न) ब्रह्ममें अज्ञानका लक्षण-प्रविष्ट हो जानेसे लक्षणमें अतिव्याप्ति-दोष हो जाता है। अतः 'सद्विलक्षणत्वेसति असद्विलक्षणम्' इतना अज्ञानका लक्षण किया गया है। वास्तवमें तो 'सद्विलक्षणमज्ञानम्' इतना ही लक्षण करना समुचित है। 'असद्विलक्षणाम् यह पद व्यर्थ है; क्योंकि कोई असत् वस्तु हो तो उससे विलक्षण (भिन्न) कहा जाय।

वन्ध्या-पुत्र आदि असिद्ध पदार्थ हैं। जब वन्ध्या-पुत्र, आकाश-पुष्प आदि वस्तुएं ही नहीं हैं तो उससे विलक्षण कहना असङ्गत है, जो वस्तु सम्भव रहे उससे विलक्षण कहना संगत होता है। जो वन्ध्या है उसका पुत्र असम्भव है तथा आकाशका फूल असम्भव है।

इस प्रकारकी गवेषणा करनेसे अज्ञानके लक्षणमें 'असद्विलक्षणम्' यह पद व्यर्थ है। केवल शिष्योंकी बुद्धिके विकासके लिये ही दिया गया मालूम पड़ता है।

यद्यपि माया (अज्ञान) की तरह यह जगत् भी सत् और असत् से विलक्षण है तथापि मायाके लक्षणमें 'अनादि' पदका समावेश कर देनेसे मायाका लक्षण प्रपञ्चमें नहीं प्रविष्ट होता है, क्योंकि प्रपञ्च अनादि नहीं है उसकी उत्पत्ति होती है और मायाकी उत्पत्ति नहीं होती है, वह अनादि है।

यद्यपि मायाके लक्षणमें 'अनादि' पदके समावेश करनेपर भी जीव और ईश्वरमें भी मायाका लक्षण प्रविष्ट हो जाता है, क्योंकि

'जीवेशावाभासेन करोति' अर्थात् मायामें और अविद्यामें प्रतिविम्ब पड़नेसे ईश्वर और जीव बनते हैं इस श्रुति प्रमाणसे ईश्वर और जीव दोनों ही कल्पित (मिथ्या) सिद्ध होते हैं और जो मिथ्या वस्तु है वह सत् और असत् दोनोंसे विलक्षण है, क्योंकि मिथ्या वस्तुका अधिष्ठानके ज्ञानसे नाश हो जाता है इसलिये वह सत् भी (जिसका कभी नाश न हो) नहीं कही जाती है और उससे कार्य होता है अर्थात् उसमें कार्यकारित्व शक्ति है इसलिये वह वन्ध्या-पुत्रकी तरह असत् भी नहीं हैं; किन्तु सत् और असत् इन दोनोंसे विलक्षण है।

यद्यपि इस प्रकार ईश्वर और जीव भी कल्पित होनेके कारण सत् और असत् इन दोनोंसे भिन्न हैं तथा अनादि भी हैं अतः मायाका लक्षण ईश्वर और जीवमें भी प्रविष्ट हो जाता है, तथापि मायाके लक्षणमें **'ज्ञान निवर्त्य'** पदके समावेश कर देनेसे उक्त दोष नहीं होता है।

ज्ञानसे केवल अज्ञानकी ही निवृत्ति होती है ईश्वरभाव या जीवभावकी निवृत्ति ज्ञानसे नहीं होती है किन्तु ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है और अज्ञान निवृत्तिसे जीवभाव और ईश्वरभावकी निवृत्ति होती है। जैसे—पद्मपादाचार्यने कहा है कि **'यतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्त्तकम्'** अर्थात् अज्ञानका ही निवर्तक (नाशक) ज्ञान होता है।

इस प्रकार मायाका लक्षण **"सदसद्विलक्षणत्वेसति अनादिभावरूपत्वे सति ज्ञान-निवर्त्यम्"** अर्थात् सत् वस्तु (जिसका

कभी नाश न हो) से विलक्षण तथा असत् वस्तुसे विलक्षण हो और अनादि भावरूप हो और ज्ञानसे विनष्ट होता हो" मायाका यह लक्षण सर्वथा निर्दुष्ट है।

नैयायिक आदि कई एक वादीके मतमें ज्ञानका अभाव ही अज्ञान कहा जाता है उसका निराकरण करनेके लिये सिद्धान्तमें अज्ञानको भावरूप माना गया है।

अज्ञानको अभावरूप न मानकर भावरूप माननेमें अनेक प्रमाण हैं।

'अहं ब्रह्म न जानामि' अर्थात् **'मैं ब्रह्मको नहीं जानता हूं'** इस प्रकार अज्ञानका अनुभवात्मक प्रत्यक्ष सब प्राणियों-को हो रहा है अतः अज्ञानको भाव रूप माननेमें प्रत्यक्ष प्रमाण है।

श्रुतिप्रमाण—जैसे **'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्'** अर्थात् वे ब्रह्मके ध्यान परायण ब्रह्मवेत्ता पुरुषोंने देवात्मशक्ति अर्थात् अज्ञानरूप शक्तिको ही जगतके कारणरूपसे देखा, जो अज्ञान शक्ति अपने सत्त्वादि गुणोंसे निगूढ़ है उसीको जगतका कारण समझा।

स्मृतिप्रमाण—**'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः, ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः'** अर्थात् अज्ञानसे आवृत (ढका हुआ) ज्ञान रहता है जिससे जीवको मोह. बना रहता है अर्थात् जीव वास्तव आत्म-ज्ञानका लाभ न करके संसारी बने रहते हैं और जिस जीवका वह अज्ञान ज्ञानके द्वारा नष्ट हो चुका है उसे **'अहंब्रह्मास्मि'** इसप्रकार ब्रह्मका साक्षात्कार होता है

इस प्रकार भगवद्गीतामें तथा अन्यान्य स्मृतियोंमें भी अज्ञानको ब्रह्मके स्वरूपका आवरण-कारक कहा है अर्थात् अज्ञान रहनेके कारणसे ब्रह्मके वास्तव स्वरूपका अनुभव लोगोंको नहीं होता है यह अनेक स्थलमें शास्त्रोंमें जो कहा गया है, उससे अज्ञान भावरूप ही सिद्ध होता है, क्योंकि आवरण-कर्तृत्वशक्ति (आवरण करना) भाव पदार्थमें ही रहती है अभाव पदार्थमें नहीं रह सकती है।

इस प्रकार श्रुति, स्मृति तथा प्रत्यक्ष प्रमाणोंके अनुरोधसे अज्ञानको ज्ञानका अभावस्वरूप मानना नैयायिकोंका समुचित नहीं है। और पूर्वोक्त गीता वचनसे अज्ञानका नाश ज्ञानके द्वारा कहा गया है अतः अज्ञानके विषयमें जो सांख्यका सिद्धान्त है, उसका भी खण्डन हो जाता है, क्योंकि—

सांख्य-सिद्धान्तमें, जो प्रधान (प्रकृति) अचेतन तथा स्वतन्त्र और पारमार्थिक परिणामी एवम् नित्य और त्रिगुणात्मक है, वही अज्ञान कहा जाता है, यह सांख्यका मत समीचीन नहीं है क्योंकि— लोकमें भी अचेतन पदार्थ जो रथ आदि हैं उनकी प्रवृत्ति स्वतन्त्र नहीं देखी जाती है; किन्तु चेतनके अधीन देखी जाती है अर्थात् चेतनके द्वारा ही रथ आदि चलाये जाते हैं स्वयम् रथ आदि नहीं चल सकते हैं इसलिये अचेतन (जड़) प्रकृतिको स्वतन्त्र मानना अत्यन्त विरुद्ध है। तथा प्रधान (प्रकृति) को परिणामी मानकर सावयव ही मानना अनिवार्य है; क्योंकि जो पदार्थ अवयव-रहित होते हैं वे कभी परिणामी नहीं हो सकते हैं। और सावयव मानकर पुनः नित्य मानना भी समीचीन नहीं है।

सावयव पदार्थका ही परिणाम (रूपान्तर) सर्वत्र देखा जाता है जैसे—सावयव दुग्धका दधि परिमाण देखा जाता है और कोई भी वस्तु हो, सावयव होनेसे ही अनित्य हो जाती है इसलिये परिणामी प्रकृतिको नित्य कहना सर्वथा असङ्गत है। सर्वत्र सावयव पदार्थ अनित्य ही देखे जाते हैं और "**ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः** यह प्रमाण-शिरोमणि भगवद्गीतामें ज्ञानके द्वारा अज्ञानका नाश कहा गया है। इससे अज्ञान अनित्य सिद्ध हो जाता है।

यदि सांख्य-मतके अनुसार अज्ञान (प्रकृति) नित्य हो तो उसका नाश गीता आदिमें कैसे कहा जा सकता।

इस प्रकार माया (अज्ञान) को भावरूप सिद्ध करनेके अनेक प्रमाण हैं।

अज्ञानका विभाग

अज्ञान दो प्रकारके होते हैं **(१) माया (२) अविद्या।**

माया

शुद्ध सत्त्वगुण-प्रधान अज्ञान (मूल प्रकृति) को **'माया'** कहते हैं अर्थात् त्रिगुणात्मक अज्ञानका जब शुद्ध सत्त्व गुण प्रधान होना है (रजोगुण, तमोगुणसे तिरस्कृत नहीं होना ही सत्त्वगुणकी शुद्धता है) तब यह अज्ञान 'शुद्धसत्त्वगुण-प्रधान कहा जाता है, इसे ही **'माया'** कहते हैं।

अविद्या

मलिनसत्त्वगुण-प्रधान अज्ञानको **अविद्या** कहते हैं।

अर्थात् त्रिगुणात्मक अज्ञानका जब मलिन सत्त्वगुण प्रधान होता है तब उसे **अविद्या** कहते हैं। (रजोगुण और तमोगुणसे सत्त्वगुणका दब जाना ही सत्त्वगुणकी मलिनता है।)

इस प्रकार एक ही अज्ञान सत्त्वगुणकी शुद्धतासे माया रूप है और सत्त्वगुणकी मलिनतासे अविद्या रूप है। श्रुति—'**माया चाविद्या च स्वयमेव भवति**' अर्थात् मूल प्रकृतिरूप अज्ञान स्वयम् (आप ही) मायारूप और अविद्यारूप होता है" वह **अज्ञान** चेतनकी उपाधि है।

इसका अनादि कालसे चेतनके साथ संबन्ध चला आ रहा है। इसी सम्बन्धसे चेतन अपना स्वाभाविक स्वरूप **समस्त उपाधि रहित, अनन्त, आनन्द, चैतन्य, एकरस, अद्वितीय, नित्यस्वरूप** को न प्राप्त करके असंख्य जीव बनकर नाना प्रकारकी सांसारिक यातना (क्लेश) को भोगते रहते हैं अतः उस अनिर्वचनीय मायाका विनाश करना जिज्ञासुका अभिलषित है।

भगवद्गीता—**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया मामेवये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्तिते**

अर्थात् आत्माकी उपाधिरूप त्रिगुणात्मक, असंभवको सम्भव करने-वाली इस मायाका विनाश करना दुःसाध्य है जो पुरुष, आत्मा

(चेतन) के वास्तव स्वरूपको प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् जिन्हें आत्माका साक्षात्कार हो जाता है वही इस मायाके फन्देसे बच जाते हैं अर्थात् सर्वदाके लिये उन्हें मायासे संबन्ध छूट जाता है।

मायाके निरूपणमें मतान्तर

कई ग्रन्थकारोंने तो माया और अविद्याका भेद इस प्रकार किया है कि—अज्ञानकी दो प्रकारकी शक्ति होती है, (१) ज्ञान-शक्ति (२) क्रियाशक्ति।

शक्ति

कार्यको उत्पन्न करनेकी कारणमें जो सामर्थ्य है उसे शक्ति कहते हैं।

ज्ञानशक्ति

'अस्ति, प्रकाशते इति व्यवहार-कारणं ज्ञानशक्तिः'

अर्थात् 'ब्रह्म है और ब्रह्म भासता है' इस प्रकारका जो व्यवहार है। उस व्यवहारके जो कारण है उसे ज्ञानशक्ति कहते हैं।

ज्ञानको उत्पन्न करनेकी जो सामर्थ्य है वह ज्ञानशक्ति है। रजोगुण तमोगुण इन दोनोंसे जो सत्त्वगुण अभिभूत (दबा हुआ) नहीं है, वह ज्ञानशक्ति है क्योंकि उसी सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है।

भगवद्गीता—'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' अर्थात् सत्त्व गुण से ज्ञानकी उत्पत्ति होती है।

क्रियाशक्ति

क्रियाको उत्पन्न करनेकी जो शक्ति है उसे क्रियाशक्ति कहते हैं।

सत्त्व गुणसे जब रजोगुण और तमोगुण दोनों अभिभूत न होते हैं तब रजोगुण, तमोगुण दोनों **क्रियाशक्ति** कहे जाते हैं क्रियाशक्ति भी दो प्रकारकी होती है।

(१) आवरणशक्ति (२) विक्षेपशक्ति।

आवरणशक्ति

नास्ति न प्रकाशते इति व्यवहार-हेतुः आवरणशक्ति

अर्थात् "**ब्रह्म नहीं है और नहीं भासता है**" इ प्रकारकी प्रतीति जिससे होती है उसे **आवरण शक्ति** कहते हैं।

कूटस्थ (निर्विकार) सच्चिदानन्द ब्रह्म नहीं हैं और नहीं भासते हैं इस प्रकारका व्यवहार लोगोंमें जो दृष्ट है उसका कारण आवरणशक्ति है। वह तमोगुण प्रबल है अर्थात् सत्त्वगुण और रजो गुणसे दबा हुआ नहीं है

आवरण शक्ति दो प्रकारकी होती है। (१) असत्त्वापादक आवरण (२) अभानापादक आवरण।

असत्त्वापादक आवरणशक्ति

'**वस्तु नहीं है**' ऐसी प्रतीति करानेवाली जो शक्ति है, उसे असत्त्वापादक आवरणशक्ति कहते हैं।

अभानापादक आवरणशक्ति

'**वस्तु का भान (प्रकाश) नहीं होता है**' इस प्रकार प्रतीति करानेवाली जो शक्ति है उसे अभानापादक आवरणशक्ति कहते हैं।

अर्थात् एक तो वस्तुके अस्तित्वका अज्ञान दूसरा "वस्तु तो है किन्तु उसके स्वरूपका ज्ञान मुझे नहीं है" इस प्रकारका वस्तु-स्वरूपका अज्ञान ये दोनों अज्ञान आवरण स्वरूप ही हैं।

विक्षेप शक्ति

आकाशादि प्रपञ्चोत्पत्तिहेतुर्विक्षेपशक्तिः

अर्थात् आकाश आदि प्रपञ्चकी उत्पत्तिका कारण जो शक्ति है उसे **विक्षेप शक्ति** कहते हैं।

सत्त्व और तम इन गुणोंसे अनभिभूत जो रजोगुण है जब सत्त्वगुण या तमोगुण से रजोगुणका अभिभव (तिरस्कार) नहीं होता है, अर्थात् रजोगुण जब उक्त दोनों गुणोंसे दबा हुआ नहीं रहता है तब वह रजोगुण **विक्षेप शक्ति** कहलाता है।

विक्षेपशक्तिर्लिंगादिब्रह्माण्डान्तमसृजत्

अर्थात् लिङ्ग शरीरसे लेकर चतुर्दश भुवन जो ब्रह्माण्ड है उन सबको विक्षेप शक्ति ही उत्पन्न करती है।

सारांश—आवरण-जनक शक्ति आवरणशक्ति है और विक्षेप-जनक शक्ति विक्षेप शक्ति है।

सत्त्वगुण और रजोगुण इन दोनोंमेंसे किसी गुणसे जिस तमो-गुणका अभिभव नहीं होता है अर्थात् सत्त्व या रज गुणसे जब तमोगुण दबा हुआ नहीं रहता है तब वही तमोगुण आवरण शक्ति कहलाता है।

इसका समर्थन शांकर भाष्यमें भी किया गया है जैसे—

"कृष्णं तमः अवरणात्मकत्वात्" अर्थात् तमोगुण आवरण स्वरूप होनेसे **"अजामेकांलोहित शुक्ल कृष्णाम्"** इस श्रुतिमें स्थित जो 'कृष्ण' शब्द है वह तमोगुणका ही वाचक है।

इस प्रकार भाष्यकारके वचनसे भी तमोगुणकी आवरण रूपता सिद्ध है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त अज्ञानकी जब आवरण शक्ति प्रधान रहती है, तब उसका नाम **अविद्या** होता है, अतः **आवरणशक्तिप्रधान अज्ञान अविद्या है।**

और जब अज्ञानकी विक्षेप शक्ति प्रधान रहती है, तब उसका नाम **माया** होता है, अतः **विक्षेपशक्तिप्रधान अज्ञान माया** है।

कई शास्त्रोंमें माया और अविद्याका इसी प्रकार लक्षण किया गया है, जैसे—

माया

स्वाश्रयाव्यामोहकरी माया अर्थात् जो अज्ञान अपने आश्रय चेतनको मोहमें न डाले उसे **माया** कहते हैं।

अविद्या

स्वाश्रय व्यामोहकरी अविद्या

अर्थात् जो अज्ञान अपने आश्रय चेतनको मोहमें डाले उसे **अविद्या** कहते हैं।

और मायाका कार्य मोह करना नहीं है अतः उसका आश्रय ईश्वर-चेतन मोहमें पड़कर अज्ञानी बनता नहीं है; किन्तु सर्वज्ञ रहता है।

किन्तु अविद्याका कार्य मोह करना है, अतः उसका आश्रय जीव-चेतन मोहमें प्राप्त होकर अज्ञानी बना रहता है।

और ज्ञानशक्तिरूप जो अज्ञान है वह भी माया ही है।

इस प्रकार माया और अविद्याका भेद स्मृतियोंमें भी कथित है।

'तरत्यविद्यां वितनां हृदि यस्मिन्निवेशिते । योगा मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः' अर्थात् जिस परमात्माको हृदयमें साक्षात्कार करनेसे अद्वैतवेत्ता पुरुष आवरण शक्ति-प्रधाना अविद्याको और विक्षेप शक्ति-प्रधाना मायाको नाशकर उसके पार चले जाते हैं। और अमेय (अप्रमेय) अर्थात् मन और वाणीसे जो ज्ञेय नहीं है, उस ज्ञानस्वरूप ब्रह्मको नमस्कार है।

एक आश्रयमें एक ही वस्तुका सत्त्व और असत्त्व नहीं रह सकता है क्योंकि दोनों परस्पर विरुद्ध हैं।

इसी प्रकार अज्ञान सावयव अथवा निरवय तथा सावयव-निरवय उभय रूप भी नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि न्याय-मतमें, द्रव्यके आरम्भक उपादानको ही **अवयव** कहते हैं।

सांख्य-मतमें भी द्रव्यके परिणामी उपादानको ही अर्थात् जिसका परिणाम (कार्य) द्रव्यरूप ही हो, गुण, क्रिया न हो, उसे अवयव कहते हैं।

कहनेका तात्पर्य यह है कि उक्त दोनों मतोंमें जिस उपादान कारणसे द्रव्य पदार्थ ही उत्पन्न होता है उसे **अवयव** कहते हैं, अर्थात् द्रव्य-जनक उपादान **अवयव** कहा जाता है।

यदि केवल उपादानको अवयव कहें तो शब्द गुणका उपादान कारण आकाश भी शब्दका अवयव हो जाता है। तथा घट आदि पदार्थ भी रूप आदि गुणके तथा चलन आदि क्रियाके उपादान कारण होनेसे रूप आदि और चलन आदिके अवयव घट आदि पदार्थ हो जाते हैं, जो सर्व मतसे विरुद्ध है।

अतः केवल उपादान कारणको **अवयव** न कहकर **द्रव्य-जनक उपादान कारणको अवयव** कहते हैं।

शब्द द्रव्य नहीं है किन्तु गुण है और चलन भी द्रव्य नहीं ~ क्रिया है अतः द्रव्यके उत्पादक नहीं होनेके कारण [illegible] शब्दका अवयव नहीं कहा जाता है और चलनका घट

अवयव नहीं कहा जाता है और अवयव-जन्य वस्तुको सावयव कहते हैं अर्थात् जो अवयवोंसे उत्पन्न हो वह सावयव या अवयवी कहा जाता है।

इस प्रकार सावयवत्वके निरूपणसे सिद्ध है कि सावयव जो होता है वह द्रव्य पदार्थ ही रहता है और अज्ञान (माया) द्रव्य नहीं है, अतः सावयव भी नहीं हो सकता है क्योंकि द्रव्य दो प्रकारके होते हैं (१) नित्य द्रव्य (२) अनित्य द्रव्य

अविद्याको नित्य द्रव्य मानकर 'सावयव' कहना 'वदतो व्याघातः' होता है अर्थात् जो द्रव्य नित्य होता है वह अवयव-जन्य कैसे हो सकता है, नित्य वस्तु तो किसीसे जन्य (उत्पन्न होनेवाली नहीं) होता है और अज्ञानको नित्य माननेसे शास्त्रमें ज्ञानसे अज्ञानका नाश कहना संगत नहीं होता है। क्योंकि किसीसे उत्पन्न तथा विनष्ट नहीं होनेके कारण नित्य कहा जाता है।

और यदि अज्ञानको अनित्य द्रव्य मानें, तो सावयव अज्ञानके अवयव भी अनित्य ही मानने पड़ेंगे, क्योंकि अनित्य अवयवीके अवयव भी अनित्य ही होते हैं यह सर्व-सिद्ध है।

इस प्रकार अनित्य अविद्याके अवयव अनित्य और अवयवके अवयव भी अनित्य उसके भी अवयव अनित्य इस प्रकार अनित्य अवयवकी धारा चलनेसे 'अनवस्थादोष' हो जाता है; क्योंकि किसीको आदिमें नित्य नहीं माननेसे कहांसे सर्व प्रथम यह अवयव-धारा प्रारम्भ होती है, इसका निर्णय असम्भव है अतः सब अवयवोंके

मूल कारण परिमाणुको नित्य मानना अनिवार्य है और परिमाणुको नित्य माननेसे अद्वैत श्रुतिका विरोध होता है। अर्थात् एक ब्रह्मके सिवाय कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है ऐसा अद्वैत श्रुतियोंका तात्पर्य है।

न्याय-मतमें परिमाणुको नित्य तथा सांख्य-मतमें प्रधानको नित्य स्वीकार करना अद्वैत श्रुतियोंका विरुद्ध ही है।

इस प्रकार नित्य या अनित्य द्रव्य नहीं होने के कारण अज्ञान **सावयव नहीं हो सकता है।**

क्योंकि द्रव्य ही सावयव होता है जो पदार्थ द्रव्य नहीं है, वह सावयव नहीं होता है।

और जिस प्रकार अज्ञान सावयव नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार निरवयव भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अज्ञान **(माया)** को इस जगतका उपादान कारण वेदान्त-शास्त्रमें अङ्गीकार कर चुके हैं। और निरवयव पदार्थ किसीका उपादान कारण नहीं होता है, यह तर्क-सिद्ध है।

न्याय-शास्त्रमें, शब्दगुणका उपादान कारण (समवायी कारण) निरवयव आकाशको जो माना है वह भी **"तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः"** इस श्रुतिके विरुद्ध होनेसे मान्य नहीं है और जो द्व्यणुकका उपादान कारण निरवयव परमाणुको माना है वह भी असंगत है, क्योंकि अवयव-रहित परमाणुओंका संयोग असम्भव है। सावयव वस्तुओंका ही संयोग लोगोंमें दृष्ट है।

अतः दो निरवयव परमाणुओंके संयोगसे द्व्यणुककी जो उत्पत्ति मानी गयी है वह तर्क-सिद्ध नहीं है, अतः इस महान् प्रपञ्चके उपादान कारण अज्ञानको निरवयव मानना असम्भव है। अज्ञान (माया) को प्रपञ्चके उपादान कारण माननेमें "मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्" इत्यादि श्रुति प्रमाण हैं।

परस्पर विरुद्ध होनेके कारण सावयव तथा निरवयव दोनों स्वरूप अज्ञानका कहना सर्वथा असङ्गत है क्योंकि जो सावयव होता है वह निरवय नहीं, और जो निरवयव होता है वह सावयव नहीं होता है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण-सिद्ध है।

पूर्वोक्त प्रकारसे किसी धर्मसे भी अज्ञान (माया) का निरूपण अशक्य होनेसे अज्ञानको **अनिर्वचनीय** कहते हैं अर्थात् ब्रह्मसे भिन्न या अभिन्न, अथवा भिन्नाभिन्न सत् अथवा असत्, या सत्-असत् उभयरूप सावयव या निरवयव अथवा सावयव-निरवयव उभयरूप कुछ भी अज्ञानको नहीं कह सकते हैं।

जिसका निर्वचन (निरूपण) पूर्वोक्त रूपसे अशक्य हो उसे अनिर्वचनीय कहते हैं।

इस प्रकारके अनिर्वचनीय अज्ञानको अनादि भावरूप कहना सर्वथा असङ्गत है क्योंकि भावरूप कहनेसे सत् रूप सिद्ध हो जाता है और सत्‌रूप अङ्गीकृत नहीं है।

अज्ञानकी भावरूपताका मण्डन

जिस प्रकार अज्ञान (माया) सत् वस्तुसे विलक्षण है उसी

प्रकार असत् वस्तुसे भी विलक्षण है। अबाध्यत्व रूप (कभी बाधित न होना) सत्त्व अज्ञानमें नहीं है अतः सत्से विलक्षण है क्योंकि अज्ञानका बाध आत्म-ज्ञानसे हो जाता।

और तुच्छत्वरूप असत्त्व भी अज्ञानमें नहीं है अतः उससे भी विलक्षण है क्योंकि **अज्ञान (माया)** वन्ध्या-पुत्रकी तरह अलीक (असिद्ध वस्तु) नहीं है इससे जगतकी उत्पत्ति होती है, जितने व्यवहार होते हैं सबोंका निदान अज्ञान ही है इस प्रकारकी विचित्र शक्ति-शाली वस्तु वन्ध्या-पुत्रकी तरह असत् कैसे कही जा सकती है अतः **सत् और असत् रूपसे जिसका निर्वचन (निरूपण) नहीं हो सकता है उसे ही अनिर्वचनीय कहते हैं। पारमार्थिक सत्स्वरूप ब्रह्मसे विलक्षण तथा सर्वथा सत्तारूप स्फूर्त्ति-शून्य शश-शृंग आदि असत् वस्तुसे विलक्षण ही** अनिर्वचनीय शब्दका पारिभाषिक (साङ्केतिक) अर्थ है।

किन्तु सर्वथा निर्वचन करनेके अशक्य हो उसे अनिर्वचनीय नहीं कहते हैं।

अज्ञान शब्दका ज्ञानका अभाव अर्थ नहीं है, किन्तु ज्ञानका विरोधी अज्ञान शब्दका अर्थ है अतः अज्ञानमें भावरूपताका कथन संगत होता है।

विवरण-कार आदि प्राचीन आचार्योंने अन्धकारको 'प्रकाशके

अभावरूप' नहीं माना है किन्तु प्रकाशका विरोधी जो वस्तु है वही अन्धकार है ऐसा कहकर अन्धकारको भाव रूप ही माना है, अभावरूप नहीं माना है। इस प्रकारसे अज्ञान भी भावरूप ही सिद्ध होता है, अभाव रूप नहीं होता है।

अज्ञान (माया) की उत्पत्ति नहीं है अतः अनादि है। यद्यपि घट की तरह अवयव-समवेतत्वरूप सावयवत्व अज्ञानमें नहीं है अर्थात् घड़ा आदि पदार्थ जैसे अपने अवयवोंसे बनकर सावयव कहलाते हैं वैसा सावयव अज्ञान नहीं है किन्तु अन्धकारकी तरह सांश है अर्थात् जैसे अन्धकारके अनेक अंश हैं वैसे अज्ञानके भी अनेक अंश आवरण, विक्षेपशक्ति हैं।

पञ्चम-रत्न

ईश्वर और जीवका निरूपण

जिस प्रकार, मायासे उपहित चैतन्यको ईश्वर, अन्तर्यामी तथा सब भूतोंका कारण 'एष सर्वेश्वरः' 'एषोऽन्तर्यामी' 'एष योनिःसर्वस्य' इत्यादि श्रुतियोंमें कहा है। और वही माया-उपहित चैतन्य (ईश्वर) 'तत्त्वमसि' महावाक्यके तत् पदका वाच्य अर्थ कहा गया है उसी प्रकार अविद्यासे उपहित चैतन्य ही (जीव या प्राज्ञ) 'तत्त्वमसि' के त्वम् पदका वाच्य अर्थ है।

उपहित शब्दका प्रतिबिम्बित अर्थ विवक्षित है अर्थात् ज्यो-

अर्थमें तात्पर्य है। सारांश, मायामें प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर और अविद्यामें प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव कहा जाता है।

भिन्न-भिन्न उपाधिके भेदसे ईश्वर और जीवका निरूपण

कई एक आचार्योंके मतमें "शुद्ध चेतनके आश्रित जो मूल-प्रकृति है उसमें जो शुद्ध चेतनका प्रतिबिम्ब है वह ईश्वर है।"

और उसी मूल प्रकृतिके आवरण शक्ति विशिष्ट जो अनन्त अंश हैं वे अविद्या हैं उस अविद्यारूप अनन्त (असंख्य) अंशोंमें चेतनका जो असंख्य प्रतिबिम्ब हैं वे जीव कहे जाते हैं।

इस मतमें समष्टि रूप ईश्वर है और व्यष्टि रूप जीव हैं, जैसे— समष्टि रूप वन है और व्यष्टिरूप वृक्ष हैं।

दूसरा मत

पञ्चदशी ग्रन्थमें विद्यारण्य स्वामीने माया और अविद्याका इस रूपसे भेद कथन कर ईश्वर और जीवका भेद निरूपण किया है जैसे—तमो रजः सत्त्वगुणा प्रकृति द्विविधा च सा सत्त्व शुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते। माया-बिम्बो-वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा" अर्थात् सत्त्व, रज, तम रूप त्रिगुणात्मक प्रकृति दो प्रकारकी होती है एक माया दूसरी अविद्या।

शुद्ध सत्त्वगुणकी प्रधानता होनेसे प्रकृति ही **माया** कहलाती है और मलिनसत्त्व गुणकी प्रधानता होनेसे प्रकृति ही **अविद्या** कहलाती है।

मायामें प्रतिबिम्बित जो चैतन्य है वह मायाको अपने अधीन करके **सर्वज्ञ** तथा **ईश्वर** कहा जाता है और अविद्यामें प्रतिबिम्बित जो चैतन्य है वह स्वयम् अविद्याके वशमें होकर **जीव** कहा जाता है वह जीव अविद्याकी विचित्रतासे (असंख्य भेदसे) अनेक (असंख्य) प्रकारके होते हैं, अर्थात् जिसमें शुद्ध सत्त्वगुण प्रधान है ऐसी जो त्रिगुणात्मक प्रकृति है उसीका नाम माया है और वह एक है अतः उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य (ईश्वर) भी एक ही है। और जिसमें मलिन सत्त्वगुण प्रधान हैं ऐसी जो त्रिगुणात्मक प्रकृति है उसीका नाम अविद्या है उसकी मलिनतामें असंख्य प्रकारके न्यूनाधिक्य हैं अतः अविद्या नाना (असंख्य) हैं, इसलिये उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य (जीव) भी देव, मनुष्य आदि रूपसे नाना (असंख्य) हैं।

"मायाचाविद्याच स्वयमेव भवति"

इस श्रुतिसे मूल प्रकृतिका ही दो रूप होना निश्चित होता है (१) माया (२) अविद्या। ईश्वरकी उपाधि मायाका सत्त्व गुण शुद्ध है अतः ईश्वर सर्वज्ञ है। जीवकी उपाधि अविद्याका सत्त्वगुण मलिन है अतः जीव अल्पज्ञ है।

तीसरा मत

कई एक ग्रन्थकर्त्ताके मतमें "मायाचाविद्याच स्वयमेव
ति" इस श्रुतिमें मूल प्रकृतिके ही दो स्वरूप होनेका जो कथन
समें यह युक्ति है कि—मूल प्रकृति ही विक्षेपशक्तिकी प्रधान-
माया कही जाती है और आवरण शक्तिकी प्रधानतासे अविद्या
जाती है। इस मतमें शुद्ध सत्त्व और मलिन सत्त्वकी प्रधा-
के भेदसे प्रकृतिकी माया और अविद्या संज्ञा नहीं है किन्तु
पशक्ति और आवरण शक्तिके भेदसे प्रकृतिकी माया और
द्या संज्ञा होती है। ईश्वरकी उपाधि मायामें आवरण शक्ति
है अतः मायामें चित्-प्रतिबिम्ब ईश्वर अज्ञ नहीं होता है और
रण शक्तिमती अविद्यामें चित्-प्रतिबिम्ब जीव अज्ञ होते हैं।

चौथा मत

संक्षेप शारीरक ग्रन्थका यह मत है कि श्रुतिमें 'कार्योपाधि-
जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' अर्थात् जीवकी उपाधि कार्य
और ईश्वरकी उपाधि कारण है, इस श्रुति प्रमाणके बलसे
ायामें चेतनके प्रतिबिम्ब को ईश्वर कहते हैं
र अन्तःकरणमें चेतनके प्रतिबिम्बको जीव कहते हैं।
क्योंकि माया अन्तःकरणका कारण है और अन्तःकरण मायाका
र्य है इस प्रकार पूर्वोक्त चार मतोंमें चार प्रकारसे ईश्वर और
वके स्वरूपका निर्णय किया गया है।

प्रथम मतमें समष्टि और व्यष्टिरूपके भेदसे, **द्वितीय मतमें** शुद्धसत्त्व और मलिन सत्त्वके भेदसे, **तृतीय मतमें** विक्षेप-शक्ति और आवरण शक्तिके भेदसे, चतुर्थ मतमें कारण रूप उपाधि और कार्यरूप उपाधिके भेदसे ईश्वर और जीवका पृथक् पृथक् स्वरूप निरूपण किया गया है।

उक्त चारों मतमें केवल प्रतिबिम्बको ईश्वर या जीव नहीं कहते हैं किन्तु प्रतिबिम्बत्व विशिष्ट चेतनको ईश्वर या जीव कहते हैं।

यदि मायामें चेतनके केवल प्रतिबिम्बको ईश्वर और अन्तः-करणमें चेतनके केवल प्रतिबिम्बको जीव कहें, चेतन भाग छोड़ दें तो **'तत्त्वमसि'** के ईश्वरवाचक **तत्** पदमें तथा जीव वाचक **त्वम्** पदमें भाग त्याग लक्षणाका शास्त्रोंमें जो प्रतिपादन है वह असङ्गत हो जाता है अतः केवल प्रतिबिम्बका ईश्वरभाव या जीवभाव इष्ट नहीं है किन्तु प्रतिबिम्बत्वरूप धर्म-सहित चेतनका ईश्वरभाव या जीवभाव अभिलषित है।

ईश्वर और जीवके स्वरूपके निर्णयमें वेदान्तियोंके चार मत पृथक् पृथक् दिखाये जाते हैं। क्योंकि ईश्वर और जीवके स्वरूप निर्णय करनेकी चार प्रक्रिया है जो **आभासवाद, प्रतिबिम्ब-वाद, अवच्छेदवाद, अनिर्वचनीयवाद,** ये चार प्रकारके वाद कहे जाते हैं।

यद्यपि वेदान्तियोंके ही चारों मत हैं किन्तु सिद्धान्तमें अनि-र्वचनीयवाद मान्य है, अतिरिक्त तीन मत एक देशी मत हैं।

आभासवाद

विद्यारण्य स्वामीने जो अपने पञ्चदशी नामके ग्रन्थमें "अन्तःकरणमें चेतनका जो आभास पड़ता है उस आभास-सहित अन्तःकरणावच्छिन्न चेतनको जीव कहा है उसका तात्पर्य यह है कि अविद्याके जिस अंशका अन्तःकरणरूप परिणाम होता है, अविद्याके उस अंशका ग्रहण है और अविद्याका वह अंश तो सुषुप्ति अवस्थामें भी रहता है अतः सुषुप्ति कालमें भी जीवका अस्तित्व संगत होता है। किन्तु उस समय वह अंश अन्तःकरण रूपमें परिणत नहीं होता है। यदि अविद्यावच्छिन्न आभासको जीव न मानकर अन्तःकरणावच्छिन्न आभासको जीव मान लिया जाय तो सुषुप्ति समयमें अन्तःकरण नहीं रहता है और उसके नहीं रहनेसे अन्तःकरणमें अवच्छिन्न आभास भी नहीं रह सकता है तो उस समयमें जीवका अस्तित्व विलुप्त हो जाता है, यह अङ्गीकृत नहीं है क्योंकि सुषुप्तिके पश्चात् जाग्रत् अवस्थामें *"मैं सो गया कुछ भी नहीं जाना"* ऐसा स्मरण जीवको होता है। और जिसको अनुभव होता है उसको ही उस अनुभूत वस्तुका स्मरण होता है यह नियम है। जाग्रत्कालका जीव यदि सुषुप्तिमें नहीं रहता तो जाग्रत्कालमें जीवको सुषुप्तिके अज्ञानका कैसे स्मरण होता? अतः सुषुप्तिकालमें भी जीव रहता है यह तर्क-पूर्ण है। जीवको **जीवचेतन** तथा ईश्वरको **ईश्वरचेतन** भी कहते हैं।

शुद्ध चैतन्यका केवल आभास जीव या ईश्वर नहीं है किन्तु

मायाका अधिष्ठान चेतन और 'माया' तथा **मायामें अवच्छिन्न जो शुद्ध चैतन्यका आभास है** यह तीनों मिलकर **ईश्वर** कहे जाते हैं। और वैसे ही **'अविद्याके अंशका अधिष्ठान चेतन' 'अविद्याका अंश' 'अविद्या-अंशमें अवच्छिन्न जो शुद्ध चैतन्यका आभास है'** यह तीनों मिलकर जीव कहे जाते हैं।

इसका यह रहस्य है कि जो वस्तु अपने अधिष्ठानसे अभिन्न (एक) होकर प्रतीत हो उसे **'आरोपित'** कहते हैं। आरोपित वस्तुकी अधिष्ठानसे पृथक् होकर प्रतीति (ज्ञान) नहीं होती है।

(दृष्टान्त) जैसे रज्जुमें सर्प प्रतीत होता है वह सर्प आरोपित (मिथ्या) है। अतः उसकी प्रतीति रज्जुसे पृथक् होकर नहीं होती है किन्तु आरोपित सर्पका अधिष्ठान जो रज्जु है उससे अभिन्न (एक) होकर सर्पकी प्रतीत होती है सर्पकी प्रतीतिके समय अधिष्ठान रज्जुकी प्रतीति अलग नहीं होती है किन्तु रज्जुका अपना स्वरूप ढक (आवृत) हो जाता है और वही स्वरूप सर्प रूपसे प्रतीत होने लगता है आरोपित पदार्थ (वस्तु) का सर्वत्र यही स्वभाव है।

(दार्ष्टान्तिक) वैसे माया तथा अविद्यामें शुद्ध चैतन्यका जो आभास है वह दर्पणमें प्रतिबिम्बित मुखकी तरह आरोपित (मिथ्या) है और माया तथा अविद्या भी अपने अधिष्ठान चेतनमें आरोपित

(मिथ्या) है, इस लिये माया तथा अविद्याकी और मायावच्छिन्न तथा अविद्यावच्छिन्न आभासकी अपने अधिष्ठान चेतनसे पृथक् प्रतीत नहीं होती है किन्तु अधिष्ठान चेतनके वास्तव स्वरूपको आवृत (ढक) कर और उस अधिष्ठान चेतनसे अभिन्न होकर प्रतीति होती है अतः अधिष्ठान चेतन और उपाधि-सहित चिदाभास दोनों मिलकर ईश्वर तथा जीव कहे जाते हैं।

दृष्टान्त

प्रस्तुत पदार्थको प्रमाणित करनेके लिये जो उदाहरण दिया जाता है उसे दृष्टान्त कहते हैं।

दार्ष्टान्तिक

जिस वस्तुमें उदाहरण दिया जाय उस वस्तुको दार्ष्टान्तिक या दार्ष्टान्त कहते हैं।

आभासवादके प्रसिद्ध दृष्टान्त

एक ही आकाश घटाकाश, जलाकाश, मेघाकाश, महाकाश के भेदसे चार प्रकारके होते हैं। और ये क्रमसे कूटस्थ, जीव, ईश्वर, ब्रह्म के दृष्टान्त होते हैं।

घटाकाश

घटावच्छिन्न आकाशको घटाकाश कहते हैं। जितने आकाशको घट (घड़ा) आकर अवच्छेद कर लेता है अर्थात् आकाशके जितने [illegible] मा जाता है उतना ही आकाश घटाकाश कहा जाता है

जलाकाश

घटावच्छिन्न आकाश तथा घट-स्थित जलमें प्रतिबिम्ब आकाशको जलाकाश कहते हैं

जलसे पूर्ण घट है उस जलमें नक्षत्र आदि आकाशमें रहनेवाली वस्तुओंके साथ जो आकाशका प्रतिबिम्ब होता है वह आकाशका प्रतिबिम्ब और पूर्वोक्त घटाकाश दोनों मिलकर **जलाकाश** कहा जाता है।

शंका—घटमें जो जल है उस जलमें आकाश-स्थित नक्षत्र आदि वस्तुओंका ही प्रतिबिम्ब दृष्ट होता है आकाशका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता है क्योंकि आकाश रूप-रहित है और रूप-रहित वस्तुका प्रतिबिम्ब नहीं देखा जाता है किन्तु रूपवान् वस्तुका ही प्रतिबिम्ब लोगोंमें सर्वत्र दृष्ट है अतः घट-स्थित जलमें आकाशका प्रतिबिम्ब कहना संगत नहीं है।

समाधान—नदी तालाब आदिमें स्वच्छ जल रहनेसे घुटनेभर जलमें ही सैकड़ों हाथकी गहराई आकाशकी तरह प्रतीत होती है, आकाशके प्रतिबिम्ब पड़नेसे जलमें वह गहराई आकाशकी ही दृष्ट हो रही है। जलके आधार जमीनकी इतनी गहराई घुटनेभर जलमें असम्भव है।

और रूप-रहित शब्द है क्योंकि शब्दका कोई रूप (नील, पीत-आदि) नहीं होता है उसकी प्रति ध्वनि आकाशमें होती है जो प्रत्यक्ष दृष्ट है।

प्रति ध्वनि (शब्द बोलनेके पीछे हो जो आकाशमें प्रतिशब्द सुनाई देता है वह) शब्दका प्रतिविम्ब हो है और नील, पीत आदि जो रूप हैं वह स्वयम् रूप-रहित हैं क्योंकि रूपके आश्रित रूप नहीं रहते हैं रूप द्रव्य पदार्थके हो आश्रित रहते हैं यह नियम है उन नीरूप (रूप-रहित) अर्थात् जिसमें रूप न हो, ऐसे नील, पीत आदि रूप (रंगोंका) स्वच्छ दर्पण आदिमें प्रतिबिम्ब लोगोंमें दृष्ट है।

उसी प्रकार जिसमें कोई भी रूप नहीं है ऐसे रूप-रहित आकाशका स्वच्छ जलमें प्रतिबिम्ब पड़ना संगत है।

मेघाकाश

मेघावच्छिन्न और मेघ-प्रतिबिम्बित आकाशको **मेघाकाश** कहते हैं। मेघ (बादल) आकर जितने आकाशको अवच्छेद कर लेता है अर्थात् जितने आकाशमें मेघ मा जाता है उतना वह आकाश, तथा उस मेघके ऊपर फैला हुआ जो महाकाश है उस महाकाशका जो मेघ-स्थित जलमें प्रतिबिम्ब पड़ता है वह प्रतिबिम्बित आकाश दोनों मिलकर **मेघाकाश** कहा जाता है।

शंका—प्रतिबिम्ब पड़नेके अनुकूल सामर्थ्य जल, दर्पण आदि कई एक स्वच्छ पदार्थोंमें हो दृष्ट है, मिट्टी आदिमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है, अतः मेघमें आकाशका प्रतिबिम्ब कहना असंगत है और 'मेघ-स्थित जल' कहना भी असंगत है क्योंकि मेघ में जल नहीं दृष्ट होता है।

समाधान—यद्यपि मेघमें जलका अस्तित्व और उसमें आकाशका प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष रूपसे दृष्ट नहीं होता है किन्तु मेघसे जलकी वृष्टि देखनेमें आती है उस जल-वृष्टिसे मेघमें जलके अस्तित्वका अनुमान किया जाता है, और जलका सद्भाव प्रमाणित होनेसे आकाशका मेघ-स्थित जलमें प्रतिबिम्ब कहना संगत है।

धुआं, आग, जल, वायु इन चार वस्तुओंके मिलनेसे ही मेघ बनता है अतः उसमें जलका सद्भाव है।

महाकाश

समस्त ब्रह्माण्डके बाहर, भीतर सर्वत्र व्यापक जो आकाश है वह **महाकाश** है। पूर्वोक्त तीन प्रकारके आकाश भी महाकाशके अन्तर्गत ही हैं किन्तु विभिन्न उपाधिके कारणसे ही **घटाकाश, जलाकाश, मेघाकाश** इस प्रकार अलग अलग नामसे कहे जाते हैं।

(दार्ष्टान्तिक)—वैसे एक ही चेतन उपाधिके भेदसे **कूटस्थ, जीव, ईश्वर, ब्रह्म** इस प्रकार भिन्न भिन्न नामसे कहे जाते हैं।

कूटस्थ

अविद्यावच्छिन्न चेतनको कूटस्थ कहते हैं।

चेतनके जितने प्रदेशमें अविद्या आ जाती है अर्थात् अविद्याका अधिष्ठान जो चेतन है वह **कूटस्थ** कहा जाता है।

कूटस्थचेतन जन्म-मरणसे रहित, शुद्ध, सत्, चित्, आनन्द, साक्षी रूप है। यह जीव या आत्म-पदका.

लक्ष्य अर्थ है। घटाकाशकी तरह कूटस्थ चेतन नित्य है अतः कूटस्थ चेतनका दृष्टान्त घटाकाश है। जैसे घटको एक प्रदेशमें दूसरे प्रदेशमें ले जानेपर घटका आधार आकाश अर्थात् घटाकाश घटके साथ नहीं लिवाया जा सकता है किन्तु जिस प्रदेशमें अवस्थित है उस प्रदेशसे लेशमात्र भी विचलित कभी नहीं होता है वैसे ही कूटस्थ चेतन लोकान्तरमें अर्थात् स्वर्ग, नरक आदि उत्तम, अधम लोकमें नहीं जाता है और न तो वह कर्त्ता है, न भोक्ता है। वह सर्व धर्म-रहित है। वह राग-द्वेष, पुण्य-पाप, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वसे रहित है।

लोहारका एक प्रकारका औजार कूट है। लोहार जिसपर लोहेको रखकर अनेक वस्तु शस्त्र आदि निर्माण करता है उस कूटकी तरह अविचलित, निर्विकार, सदा स्थित रहनेके कारण अविद्यावच्छिन्न चेतन कूटस्थ कहा जाता है।

जीवशब्द, आत्म-शब्द, तथा अहम् शब्द, त्वम् शब्द तथा प्रज्ञान शब्दका लक्ष्य अर्थ यह कूटस्थ चेतन है।

जीव

अविद्यामें जो चेतनका आभास (प्रतिबिम्ब) पड़ता है अविद्या सहित वह आभास तथा अविद्यावच्छिन्न चेतन अर्थात् अविद्याका अधिष्ठान चेतन (कूटस्थ) दोनोंके समुदायको जीव कहते हैं। चेतनके आभासको चिदाभास कहते हैं। यहां यह रहस्य है कि

अविद्याका ही परिणाम (रूपान्तर) बुद्धि है। किन्तु अविद्याके सत्त्व-गुणका परिणाम (रूपान्तर) है अतः वह स्वच्छ है, उसमें चेतनके आभास (प्रतिबिम्ब) पड़नेके अनुकूल सामर्थ्य है. अर्थात् जैसे—आकाशके प्रतिबिम्ब पड़नेके अनुकूल सामर्थ्य स्वच्छ जलमें है। चेतन ब्रह्मका जो प्रतिबिम्ब है वह **चिदाभास तथा अधिष्ठान कूटस्थ चेतन दोनों मिलकर जीव शब्दका अर्थ है।** यदि केवल बुद्धि-सहित चिदाभासको ही जीव कहें तो शास्त्रोंमें सर्वत्र आचार्योंने भाग त्यागलक्षणासे जीव और ब्रह्मका जो अभेद प्रतिपादन किया है अर्थात् जीव शब्दके अर्थका पहला एक भाग परित्याग करके दूसरे भाग कूटस्थका शुद्ध ब्रह्मसे अभेद **'तत्त्वमसि'** आदि शास्त्रोंमें माना गया है वह असंगत हो जाता है, अतः **बुद्धि-सहित चिदाभास तथा कूटस्थ अर्थात् उसका अधिष्ठान चेतन जीव कहा जाता है।**

जलाकाशकी तरह आभास-सहित अधिष्ठान चेतन जीव शब्दसे ग्रहण किया जाता है अतः जीवका जलाकाश दृष्टान्त होता है।

बुद्धिमें जो चेतनका आभास (प्रतिबिम्ब) पड़ता है उस आभास में इस प्रकार आचार्योंका मतभेद है

एक पक्ष—

घट-स्थित जलमें नक्षत्र आदि सहित ऊपरके आकाशका ही प्रतिबिम्ब पड़ता है। नीचेके आकाशका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है,

उसी प्रकार बुद्धिके अधिष्ठान चेतनका (कूटस्थका) बुद्धिमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है किन्तु बुद्धिके ऊपरके चेतनका बुद्धिमें आभास पड़ता है।

दूसरा पक्ष—

जैसे-जवा-पुष्प आदि जो लाल पुष्प हैं उनके ऊपर स्फटिक रख देनेसे, स्फटिकमें जवा फूलकी लालीकी चमक आती है वह रक्त पुष्पका प्रतिबिम्ब है। स्फटिकका रङ्ग श्वेत (उज्ज्वल) होता है अत: उसमें प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी योग्यता है।

उसी प्रकार अविद्याके सत्त्वगुणके कार्य होनेसे बुद्धि अत्यन्त उज्ज्वल है अर्थात् उसमें चेतनके प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी योग्यता है इस लिये बुद्धिमें अपने अधिष्ठान चेतन अर्थात् कूटस्थकी ही चमक होती है उसी चमकको **आभास** या **प्रतिबिम्ब** कहते हैं।

बुद्धि स्वयम् जड़ है, बिना चेतनके आभास पड़नेसे उसमें चैतन्य शक्ति (ज्ञानशक्ति) असम्भव है।

चिदाभास-सहित बुद्धिमें ही राग-द्वेष, पुण्य-पाप, सुख-दुःख होते हैं तथा उसीको जन्म-मरण तथा स्वर्ग-नरक आदि लोकान्तरकी प्राप्ति तथा बन्ध-मोक्ष होते हैं। सारांश यह कि—समस्त व्यवहार चिदाभास-सहित बुद्धिके हैं, कूटस्थ चेतनका एक भी नहीं है।

वह चिदाभास-सहितबुद्धि और बुद्धिका अधिष्ठान चेतन 'अहम्' शब्द, तथा आत्म-शब्द 'त्वम्' शब्द, जीवशब्द, तथा प्रज्ञान शब्दका वाच्य (योग्य) अर्थ है।

जिस प्रकार घटको एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश ले जानेमें घटके भीतरके प्रतिबिम्बित आकाशको, अर्थात् घट-स्थित जलमें जो आकाशका प्रतिबिम्ब है उसको छोड़कर केवल घड़ा नहीं जा सकता है किन्तु घड़ा जिस जिस प्रदेशमें जब तक जाता रहता है उस उस प्रदेशमें तब तक वह आभास भी साथ ही रहता है। घटके विनष्ट हो जानेसे ही वह आभास घटसे छूट सकता है उसी प्रकार जब तक सूक्ष्म देह (लिङ्ग शरीर) रहता है तब तक उसमें चिदाभास रहता ही है, क्योंकि सूक्ष्म शरीरमें बुद्धि है, और बुद्धिमें चेतनके आभास रहनेका स्वभाव है, अतः सूक्ष्म शरीरके विनष्ट होनेसे ही वह चिदाभास सदैवके लिये छूट सकता है। सूक्ष्म देहका विचार सृष्टि-प्रक्रियामें भली भांति किया गया है।

और यदि सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाय तो पूर्वोक्त समस्त व्यवहार बुद्धिमें ही होते हैं। आभासमें एक भी व्यवहार नहीं होता है, किन्तु बुद्धिके संयोगसे ही चिदाभासमें दुःख, सुख आदि प्रतीत होते हैं।

जैसे-घटका टेढ़ा या सीधा होनेसे घट-स्थित जलमें जो आकाशका प्रतिबिम्ब है वह भी टेढ़ा या सीधा हो जाता है उसी प्रकार बुद्धिमें सुख, दुःख उत्पन्न होनेसे चिदाभासमें भी सुख, दुःख प्रतीत हो जाते हैं, वास्तवमें चिदाभासके धर्म नहीं हैं, किन्तु बुद्धिके हैं और बुद्धिका चिदाभाससे संमिश्रण है।

कूटस्थमें तो सुख-दुःखका लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है, किन्तु चिदाभासमें अज्ञान रहनेके कारणसे सुख, दुःख प्रतीत होते हैं।

ईश्वर

मायामें जो चेतनका आभास पड़ता है वह आभास और माया तथा मायाका अधिष्ठान चेतन तीनों मिलकर ईश्वर कहा जाता है। मायाका स्वरूप शुद्ध सत्त्व गुणका है अर्थात् उसमें सदैव रजोगुण, तमोगुण दबा हुआ रहता है, उत्कृष्ट सत्त्व गुण रहता है इसलिये माया उज्वल है अर्थात् चेतनके प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी योग्यता उसमें है।

और सत्त्वगुणका प्रकाश स्वभाव है क्योंकि सत्त्वगुणसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है।

इसलिये उत्कृष्ट सत्त्वगुण स्वभाववाली मायामें आवरण दोष नहीं है अतः साधिष्ठान मायामें चेतनका जो प्रतिबिम्ब (आभास) है, जो ईश्वर शब्दका वाच्य है, उसको अपने स्वरूपमें तथा समस्त प्रपञ्चमें आवरण दोष नहीं होता है इसलिये वह सर्वज्ञ तथा नित्य मुक्त अर्थात् बन्ध-मोक्ष-रहित कहा जाता है।

ईश्वर शब्दका विशेषण अंश मिथ्या है किन्तु लक्ष्य अंश जो मायाका अधिष्ठान रूप है वह सत्य है। उससे अर्थात् मायाके अधिष्ठान चेतनसे अविद्याके अधिष्ठान चेतनका य शुद्ध चेतनसे कूटस्थ चेतनका, 'तत्' पदके लक्ष्य अर्थसे 'त्वम्' पदके लक्ष्य अर्थका अभेद 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा प्रतिपादित है। मेघकी तरह मायाके उज्वल होनेसे मायी (ईश्वर) का दृष्टान्त मेघाकाश है।

ब्रह्म

समस्त ब्रह्माण्डके भीतर तथा बाहर महाकाशकी तरह सर्वत्र व्याप्त जो चेतन है उसे **ब्रह्म** कहते हैं।

ब्रह्मकी सर्वत्र व्यापकता होनेसे, तथा समस्त प्रपञ्च एक मात्र ब्रह्ममें अध्यस्त होनेसे ब्रह्म ही समस्त प्रपञ्चके वास्तव स्वरूप हैं।

व्यापक वस्तुका नाम ब्रह्म है। व्यापकता दो प्रकारकी होती है। (१) आपेक्षिक व्यापकता (२) निरपेक्षिक व्यापकता।

आपेक्षिक व्यापक

जो वस्तु किसी पदार्थकी अपेक्षा व्यापक हो और किसी पदार्थकी अपेक्षा व्यापक न हो उसे आपेक्षिक व्यापक कहते हैं।

जैसे—पृथिवी आदिकी अपेक्षा माया व्यापक है किन्तु चेतनकी अपेक्षा व्यापक नहीं है अतः माया आपेक्षिक व्यापक है, और उसमें आपेक्षिक व्यापकता रहती है।

निरपेक्षिक व्यापक

जो वस्तु सब पदार्थकी अपेक्षा व्यापक है उसे निरपेक्षिक व्यापक कहते हैं। चेतनकी अपेक्षा या चेतनके समान अन्य कोई वस्तु व्यापक नहीं है किन्तु चेतन ही सबसे व्यापक है अतः चेतन निरपेक्षिक व्यापक है और चेतनमें निरपेक्षिक व्यापकता है। आपेक्षिक तथा निरपेक्षिक दोनों प्रकारकी व्यापकता-सहित जो वस्तु है वह ब्रह्म शब्दका वाच्य अर्थ है अर्थात् दोनों प्रकारके व्यापक वस्तुको ब्रह्म कहते हैं।

उक्त दोनों प्रकारकी व्यापकता माया विशिष्ट चेतनमें है। इ
विशेषण अंश जो माया है उसमें आपेक्षिक व्यापकता है और वि
अंश जो चेतन है उसमें निरपेक्षिक व्यापकता है।

शंका—माया विशिष्ट चेतन की अपेक्षा माया रहित चे
व्यापक है अतः माया-विशिष्ट चेतनमें निरपेक्षिक व्यापकता मान
संगत नहीं है !

समाधान—माया विशिष्ट जो चेतन है उसका चेतन अ
शुद्ध चेतनसे वस्तुतः भिन्न नहीं है किन्तु शुद्ध चेतन रूप ही है, अ
उस चेतन अंशमें निरपेक्षिक व्यापकता संगत है।

इस रीतिसे ब्रह्म शब्दका भी वाच्य अर्थ माया-विशिष्ट चेतन
है, जो ईश्वर शब्दका वाच्य अर्थ है।

शंका—ब्रह्म और ईश्वर इन दोनों शब्दोंका वाच्य अर्थ ज
एक ही है तो भिन्न भिन्न नाम या लक्षण करना असंगत है क्यों
चेतनके जो चार प्रकारके भेद कहे गये हैं और उनका भिन
भिन्न लक्षण किया गया है, वे सब वाच्य अर्थके तात्पर्यसे ही कि
गये हैं, और वाच्य अर्थ स्वीकार करनेसे ही जीवमें सुख-दुःख आ
धर्म माने जाते हैं।

और ब्रह्ममें सबकी अपेक्षा व्यापकता, तथा नित्यता आदि धर्म
माने जाते हैं।

और कूटस्थमें अर्थात् जीवके अधिष्ठान चेतनमें साक्षीपन,
ईश्वरमें जगत्कर्तृत्व (जगतका कर्तापन) माना गया है। अतः

वाच्य अर्थका स्वीकार करना ही भेदका स्वीकार करना है और भेदके स्वीकार करनेसे वस्तुओंके स्वरूप समझानेके लिये भिन्न भिन्न लक्षण करना समुचित है। लक्ष्य अर्थके स्वीकार करनेसे तो **जीव, कूटस्थ, ईश्वर, ब्रह्म** इन चारोंका अभेद ही है। अतः ईश्वर और ब्रह्म शब्दका एक वाच्य अर्थ कहना संगत नहीं है।

समाधान—यहां यह रहस्य है कि यद्यपि ब्रह्म शब्दका सोपाधिक चेतन अर्थात् माया-विशिष्ट चेतन ही वाच्य अर्थ है, जो ईश्वर शब्दका वाच्य अर्थ है किन्तु ब्रह्म शब्द अपने लक्ष्य अर्थ जो उपाधि-रहित शुद्ध चेतन सत्, चित्, आनन्द रूप है उस अर्थमें ही निगूढ़ है।

जैसे-तिल (तिल्ली) का रस तैल (तेल) शब्दका वाच्य अर्थ है। सार्षप-रस (सरसोंका रस) तैल शब्दका वाच्य अर्थ नहीं है किन्तु तो भी तैल (तेल) शब्दका प्रयोग सरसोंके रसमें वाच्य अर्थकी तरह किया जाता है अतः तैल शब्द सार्षप-रसमें निगूढ़ (रूढ़की तरह) है।

सारांश यह कि ब्रह्म शब्दसे लक्ष्य अर्थ जो **'उपाधि-रहित शुद्ध चेतन है'** वही प्रायः सर्वत्र समझा जाता है और वाच्य अर्थ जो **'उपाधि-सहित चेतन है'** वह कहीं-कहीं समझा जाता है और **ईश्वर** शब्दसे वाच्य अर्थ ही अर्थात् **माया-विशिष्ट चेतन** ही प्रायः सर्वत्र समझा जाता है और लक्ष्य अर्थ जो उपाधि-

रहित शुद्ध चैतन्य है वह कहीं कहीं समझा जाता है यही ब्रह्म और ईश्वर शब्दके अर्थमें विभेद है।

इस रीतिसे ब्रह्म शब्द के प्रसिद्ध लक्ष्य अर्थको लेकर और ईश्वर शब्द के प्रसिद्ध वाच्य अर्थको लेकरके ही ईश्वर शब्दसे भिन्न ब्रह्म शब्दका निरूपण किया गया है, अतः दोनोंका भिन्न भिन्न लक्षण करना संगत होता है।

पूर्वोक्त रीतिसे आभासवादी विद्यारण्यस्वामी आदिके मतमें, 'माया' और मायामें चेतनका आभास 'मायाका अधिष्ठान चेतन' इन तीनोंके समुदायको ईश्वर कहते हैं।

सर्वत्र व्याप्त, नित्य, अचल, सत् आनन्दरूप, एकरस, उपाधि-रहित, अविनाशी चेतनको ब्रह्म कहते हैं।

जो ब्रह्म शब्दका मुख्य अर्थ है वही जीव, ईश्वर दोनोंका लक्ष्य है उसी लक्ष्य अर्थका 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके द्वारा उपनिषद् प्रतिपादन कर रही है। लक्ष्य अर्थमें, जो जीव और ब्रह्मका अभेद है वही वेदान्त शास्त्रमें जीव, ब्रह्मका मुख्य सामानाधिकरण्य कहा गया है।

अविवेकीकी दृष्टिमें आभास-सहित अन्तःकरण जीव-विशेषण है।

विवेकीकी दृष्टिमें अभास-सहित अन्तःकरण चैतन्यकी उपाधि है।

अर्थात् अविवेकी लोग जिस चेतन-प्रदेशका अभास-सहित अन्तःकरण विशेषण समझते हैं।

विवेकी लोग उस चेतन-प्रदेशका अभास-सहित अन्तःकरण उपाधि समझते हैं।

जीवमें दो भाग हैं। (१) अभास-सहित अन्तःकरण (२) चेतन

विशेषण भाग अर्थात् प्रथम भागमें ही सब सुख, दुःख आदि धर्म उत्पन्न होते हैं विशेष भाग अर्थात् द्वितीय भागमें सुख, दुःख आदि कुछ भी सांसारिक धर्म उत्पन्न नहीं होते हैं।

किन्तु अविवेकी पुरुषको अज्ञानमें विशेषणके धर्म विशिष्टमें भान होते रहते हैं अर्थात् जो कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख, जन्म, मरण, आदि वास्तवमें अभास-सहित अन्तःकरणके हैं उन्हें चेतन (आत्मा) के धर्म समझने लगते हैं।

लोगोंमें तीन प्रकारसे विशिष्टका व्यवहार होता है।

(१) केवल विशेषणके धर्मका विशिष्टमें व्यवहार (२) केवल विशेषके धर्मका विशिष्टमें व्यवहार (३) विशेषण और विशेष दोनोंके धर्मका विशिष्टमें व्यवहार।

विशेषण और विशेष दोनोंके समुच्चयको विशिष्ट कहते हैं।

अर्थात् विशिष्टमें एक भाग विशेषण रहता है और द्वितीय भाग विशेष रहता है दोनों मिलकर **विशिष्ट** कहा जाता है।

केवल विशेषणके धर्मका विशिष्टमें व्यवहार

जैसे—**दण्डेन घटाकाशो नष्टः** अर्थात् लकड़ीसे घटाकाश नष्ट हुआ, यद्यपि लकड़ीसे केवल घटका ही, जो विशेषण है, नाश होता है **घटाकाश** के आकाशका, जो विशेष है, नाश नहीं होता है तो भी विशिष्टमें अर्थात् घट और आकाश दोनोंके समुदाय **घटाकाश** में 'नष्ट हुआ' यह प्रयोग किया जाता है।

केवल विशेषके धर्मका विशिष्टमें व्यवहार

जैसे—**कुण्डलवान् पुरुषः स्वपिति** अर्थात् कुण्डल-धारी पुरुष सोता है" यद्यपि 'सोना' धर्म कुण्डलवान्का ही सकता है जो विशेष है। कुण्डलका, जो विशेषण है 'सोना' नहीं हो सकता है तो भी कुण्डल और कुण्डलवान् दोनोंके समुदाय विशिष्ट कुण्डलवान्में 'सोता है' यह व्यवहार किया जाता है।

विशेषण और विशेषके धर्मका विशिष्टमें व्यवहार।

जैसे—**शस्त्री पुरुषो युद्धे गतः** अर्थात् शस्त्र-धारी पुरुष युद्धमें गया, यहां विशेषण शस्त्र है और विशेष शस्त्री है। युद्धमें दोनोंका जाना होता है अर्थात् "शस्त्र लेकर पुरुष युद्धमें गया है" यह पूर्वोक्त वाक्यसे समझा जाता है। किन्तु शस्त्रको छोड़कर केवल पुरुष गया

है यह नहीं समझा जाता है अतः विशेषण और विशेष्य दोनोंके धर्मका विशिष्टमें प्रयोग किया जाता है।

उपर्युक्त नियमके अनुसार चिदाभास-सहित अन्तःकरणके सुख दुःख जन्म, मरण आदि धर्मोंका अर्थात् विशेषणके धर्मोंका विशिष्टमें अर्थात् जीव चेतनमें अविवेकी पुरुष व्यवहार करते हैं।

और विवेकी पुरुष समस्त अन्तःकरणके धर्मोंका अन्तःकरणमेंही व्यवहार करते हैं विशेष्य अंश जो चेतन है उसमें व्यवहार नहीं करते हैं।

शंका—तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" इस श्रुतिसे यह समझा जाता है कि शरीररूपी वृक्षमें जीवरूपी एक पक्षी 'पिप्पल' अर्थात् कर्मके फलको भोगता है और एक ईश्वररूपी पक्षी 'अभिचाकशीति' अर्थात् उसको देख रहा है, इस प्रकार भोक्ता तथा द्रष्टा अलग अलग श्रुतिमें कहा गया है अतः दोनों एक नहीं हो सकते हैं।

और वेदमें कर्म तथा उपासना अनेक प्रकार कहे गये हैं वे सब निष्फल हो जाते हैं क्योंकि जीव, ब्रह्मकी एकतामें, यदि ब्रह्ममें जीवका अन्तर्भाव करा जाय तो जीवके ब्रह्मरूप हो जानेसे अधिकारीका अभाव हो जायगा क्योंकि जीव रहे तो कर्म या उपासनाका अधिकारी कोई जीव हो जीव तो नहीं है सब ब्रह्म ही है, उपासना कौन करे।

और यदि जीवमें ब्रह्मका अन्तर्भाव करा जाय तो ब्रह्मके जीवरूप

होनेसे ब्रह्म उपास्य नहीं कहा जा सकता है और उसकी उपासना निष्फल हो जाती है।

मीमांसाका जो मत है कि "कर्म ही ईश्वर है उसीमें फल होता है" वह समीचीन नहीं है क्योंकि कर्म जड़ है उसमें फल देनेकी सामर्थ्य नहीं है इसलिये कर्मका फल ईश्वर ही देता है, यही समीचीन है। इस प्रकार गवेषणा करनेसे श्रुतिके अनुरोधसे भी परमात्मा और जीवात्माका अभेद कहना असंगत होता है।

समाधान—अविद्या या अन्तःकरणमें जो शुद्ध चेतनका आभास है वह चिदाभास फलको भोगता है।

और मायामें जो शुद्ध चेतनका आभास है वह फल-दाता है। किन्तु कूटस्थ चेतन अर्थात् जीवका अधिष्ठान चेतन न तो फल भोगता है और ईश्वरका अधिष्ठान चेतन फल-दाता भी नहीं है उन दोनों अधिष्ठान चेतनका अभेद संगत होता है। और अधिष्ठान चेतनका अभेद ही **अहंब्रह्मास्मि** इस श्रुतिसे प्रतिपादित होता है।

और **अहं ब्रह्मास्मि** यह अपरोक्ष ज्ञान भी कूटस्थको नहीं होता है किन्तु अविद्या-सहित आभासको अथवा अन्तःकरण-सहित आभासको ही होता है।

जैसे—दस मनुष्य किसी नदीमें पार होने लगे, पार हो जानेपर कोई साथी नदीमें डूब तो नहीं गया इस सन्देहसे गिनती करने लगे, नौ आदमियोंकी गिनती करके की सब निवृत्त हो जाते थे, अपनी गिनती कोई नहीं करता था, इस प्रकारकी गिनतीसे सब एक आदमीके

डूब जानेकी सम्भावना करके दुःखी होकर कहने लगे, कि 'दसवां नहीं है, दसवां दृष्ट नहीं होता है' इस प्रकार अज्ञान, आवरण और विक्षेप-युक्त पुरुषको समझाते हुए कोई विवेकी आप्त पुरुष कहते हैं कि— **"दशमोऽस्ति"** अर्थात् दशवां है, इस प्रकारके आप्त पुरुषके वाक्यके द्वारा परोक्ष ज्ञान हो जानेसे असत्त्वापादक आवरण अर्थात् 'दशवां नहीं है' इस प्रकारका अज्ञान निवृत्त हो जाता है, पश्चात् वह विवेकी आप्त पुरुष उन्हीं सभ्रान्त पुरुषोंके द्वारा नौ पुरुषोंको गिनती कराके कहते हैं कि—**'दशमस्त्वमसि'** अर्थात् 'दशवां तू है' इस प्रकारके वाक्यके द्वारा अपरोक्ष ज्ञान हो जानेसे अभाना-पादक आवरण अर्थात् 'दशवां दृष्ट नहीं होता है' इस प्रकारका अज्ञान निवृत्त हो जाता है।

इस रीतिसे अज्ञान, आवरण, भ्रान्ति निवृत्त हो जानेसे वे अपार आनन्दका अनुभव करते हैं।

उसी प्रकार अज्ञानसे लेकर **अहं ब्रह्मास्मि** ऐसा अपरोक्ष ज्ञान तथा अपार हर्ष तक सात अवस्थाएं चिदाभासकी ही होती हैं कूटस्थ चेतनकी नहीं होती हैं।

चिदाभासकी सप्त अवस्था

अविद्यामें शुद्ध चैतन्यका जो आभास पड़ता है इस 'चिदा-भासकी सप्त अवस्था होती है कूटस्थ चेतनकी इनमेंसे एक भी अवस्था नहीं होती है।

अज्ञान, आवरण, भ्रान्ति, परोक्षज्ञान, अपरोक्ष-

ज्ञान, भ्रान्ति-नाश, अपार हर्ष ये सात अवस्थाओं नाम हैं।

अज्ञान

"मैं ब्रह्मको नहीं जानता हूँ" इस व्यवहारका जो हेतु है उ अज्ञान कहते हैं।

आवरण

"ब्रह्म नहीं है, और ब्रह्मका भान नहीं होता है" इस व्यवहारका जो हेतु है उसे आवरण कहते हैं ;

असत्वापादक और अभानापादक दोनों आवरण ही कहे जाते हैं।

भ्रान्ति या अध्यास

जन्म-मरण, आना-जाना, पुण्य-पाप, सुख-दुःख आदि धर्मोंका अपने स्वरूप आत्मामें जो भान होता है उसे भ्रान्ति, या अध्यास कहते हैं।

इसीको विक्षेप, तथा शोक भी कहते हैं।

परोक्ष ज्ञान

'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' अर्थात् "सत्यरूप, ज्ञानरूप, अनन्तरूप ब्रह्म है" ऐसा जो ज्ञान है उसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं।

परोक्ष ज्ञानसे असत्वापादक आवरण विनष्ट हो जाता है अर्थात् ब्रह्म नहीं है यह प्रतीति विनष्ट हो जाती है।

अपरोक्ष ज्ञान

'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ब्रह्म हूं' ऐसा जो ज्ञान है उसे अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं।

अपरोक्ष ज्ञानसे अभानापादक आवरण विनष्ट होता है अर्थात् 'ब्रह्मका भान नहीं होता है' इस प्रकारको प्रतीति विनष्ट होती है।

"मैं, पुण्य-पापका कर्त्ता; सुख-दुखका भोक्ता जीव हूं" इस प्रकारकी भ्रान्ति अविद्या-जाल है उसका विनाश अपरोक्ष ज्ञानसे होता है।

भ्रान्ति-नाश

"आत्मामें सुख-दुखका लेश भी नहीं है तथा जन्म, मरण आदि धर्म कुछ भी आत्माके नहीं होते हैं, आत्मा अजन्य, कूटस्थ है, इस प्रकारकी प्रतीतिको भ्रान्ति-नाश कहते हैं।

इसीको शोक-नाश तथा विक्षेप-नाश भी कहते हैं। इसीसे समस्त अनर्थ निवृत्त हो जाते हैं।

अपार हर्ष

'मैं अद्वितीय ब्रह्म हूं' इस प्रकार संशय-रहित अपने स्वरूपके ज्ञान होनेसे जो अपार मोद (हर्ष) होता है उसे अपार हर्ष कहते हैं।

शङ्का—यदि कूटस्थ और ब्रह्मका अभेद है और आभास, ब्रह्मसे भिन्न कहा जाता है तो "अहं ब्रह्मास्मि" इस प्रकारका ज्ञान ब्रह्मसे भिन्न आभासको कैसे हो सकता है ! अर्थात् मैं ब्रह्म हूं, यह

कहना आभासका अयुक्त होता है किन्तु मेरा अधिष्ठान कूटस्थ चेतन ब्रह्म है यह कहना समुचित होता है।

इसलिये चिदाभासमें उत्पन्न 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान मिथ्या है। किन्तु मेरा अधिष्ठान ब्रह्म है यह ज्ञान यथार्थ हो सकता है।

क्योंकि ब्रह्म स्वरूपसे भिन्न जो चिदाभास है उसको ब्रह्म स्वरूपका प्रतिपादन करना भ्रान्त है।

जैसे-सर्पसे भिन्न जो रज्जु है उसका सर्परूपसे ज्ञान होना मिथ्या है इसलिये रज्जुका सर्परूपसे प्रतिपादन करना भ्रान्त कहा जाता है, इस प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान मिथ्या (भ्रमरूप) सिद्ध होता है।

अथवा मिथ्या संसारके अन्तर्गत चिदाभासके आश्रित होनेसे ब्रह्म-ज्ञान सुतराम् मिथ्या सिद्ध हो जाता है। जिस प्रकार मिथ्या मृग तृष्णाके जलसे पिपासाकी निवृत्ति नहीं होती है उसी प्रकार मिथ्या ब्रह्म-ज्ञानसे संसारकी निवृत्ति नहीं हो सकती है।

अथवा उस ज्ञानका विषय जीव, ब्रह्मकी एकता है, वह सर्प और रज्जुकी एकता की तरह मिथ्या है अतः मिथ्या विषय होनेसे अहं ब्रह्मास्मि यह ज्ञान भी मिथ्याभूत विषयका निष्पन्न हो जाता है उस मिथ्या ज्ञानसे संसारकी निवृत्ति मनोरथ मात्र है, कभी संभव नहीं है।

समाधान—'अहम्' शब्दके कूटस्थ अंशका ब्रह्मसे मुख्य सामाना-धिकरण्य है और आभास अंशका ब्रह्मसे बाध सामानाधिकरण्य है।

सामानाधिकरण्य

जिन दो पदोंको समान (एक) विभक्तिके अनुरोधसे समान (एक) अधिकरण (अर्थ रूप आश्रय) होते हैं उन दोनों पदोंको समानाधिकरण कहते हैं और उन दोनों पदोंके परस्पर सम्बन्धको **सामानाधिकरण्य** कहते हैं।

मुख्य सामानाधिकरण्य

समान सत्ता और समान स्वरूपके वास्तव भेद-रहित अर्थके बोधक दो पदोंका मुख्य सामानाधिकरण्य होता है।

घटाकाश और महाकाशका तथा कूटस्थ और ब्रह्मका मुख्य सामानाधिकरण्य है।

बाध सामानाधिकरण्य

विभिन्न सत्ता और विभिन्न स्वरूपके दो पदार्थोंकी समान विभक्ति रहनेके अनुरोधसे एकता बोधक जो दो पद हैं उनका बाध सामानाधिकरण्य होता है।

स्थाणु और पुरुषका, जगत् और ब्रह्मका, बिम्ब और प्रतिबिम्बका बाधसामानाधिकरण्य होता है। कूटस्थ और ब्रह्मका मुख्य सामानाधिकरण्य है। चिदाभास और ब्रह्मका बाध सामानाधिकरण्यसे श्रुतियोंका अभेद-प्रतिपादनमें तात्पर्य है, इस प्रकार जीव, ब्रह्मका अभेद सिद्ध होता है।

कहना आभासका अयुक्त होता है किन्तु मेरा अधिष्ठान कूटस्थ चेतन ब्रह्म है यह कहना समुचित होता है।

इसलिये चिदाभासमें उत्पन्न 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान मिथ्या है। किन्तु मेरा अधिष्ठान ब्रह्म है यह ज्ञान यथार्थ हो सकता है।

क्योंकि ब्रह्म स्वरूपसे भिन्न जो चिदाभास है उसको ब्रह्म स्वरूपका प्रतिपादन करना भ्रान्त है।

जैसे-सर्पसे भिन्न जो रज्जु है उसका सर्परूपसे ज्ञान होना मिथ्या है इसलिये रज्जुका सर्परूपसे प्रतिपादन करना भ्रान्त कहा जाता है, इस प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान मिथ्या (भ्रमरूप) सिद्ध होता है।

अथवा मिथ्या संसारके अन्तर्गत चिदाभासके आश्रित होनेसे ब्रह्म-ज्ञान सुतराम् मिथ्या सिद्ध हो जाता है। जिस प्रकार मिथ्या मृग - तृष्णाके जलसे पिपासाकी निवृत्ति नहीं होती है उसी प्रकार मिथ्या ब्रह्म-ज्ञानसे संसारकी निवृत्ति नहीं हो सकती है।

अथवा उस ज्ञानका विषय जीव, ब्रह्मकी एकता है, यह सर्प और रज्जुकी एकता की तरह मिथ्या है अतः मिथ्या विषय होनेसे **अहं ब्रह्मास्मि** यह ज्ञान भी मिथ्याभूत विषयका मिथ्या हो जाता है उस मिथ्या ज्ञानसे संसारकी निवृत्ति मनोरथ मात्र है, कभी संभव नहीं है।

[illegible]—'अहम्' शब्दके कूटस्थ अंशका ब्रह्मसे मुख्य सामाना-
[illegible]और [illegible] ब्रह्मसे बाध सामानाधिकरण्य है।

सामानाधिकरण्य

जिन दो पदोंकी समान (एक) विभक्तिके अनुरोधसे समान (एक) अधिकरण (अर्थ रूप आश्रय) होते हैं उन दोनों पदोंको समानाधिकरण कहते हैं और उन दोनों पदोंके परस्पर सम्बन्धको **सामानाधिकरण्य** कहते हैं।

मुख्य सामानाधिकरण्य

समान सत्ता और समान स्वरूपके वास्तव भेद-रहित अर्थके बोधक दो पदोंका मुख्य सामानाधिकरण्य होता है।

घटाकाश और महाकाशका तथा कूटस्थ और ब्रह्मका मुख्य सामानाधिकरण्य है।

बाध सामानाधिकरण्य

विभिन्न सत्ता और विभिन्न स्वरूपके दो पदार्थोंकी समान विभक्ति रहनेके अनुरोधसे एकता बोधक जो दो पद हैं उनका बाध सामानाधिकरण्य होता है।

स्थाणु और पुरुषका, जगत् और ब्रह्मका, बिम्ब और प्रतिबिम्बका बाधसामानाधिकरण्य होता है। कूटस्थ और ब्रह्मका मुख्य सामानाधिकरण्य है। चिदाभास और ब्रह्मका बाध सामानाधिकरण्यमें श्रुतियोंका अभेद-प्रतिपाद नमें तात्पर्य है, इस प्रकार जीव, ब्रह्मका अभेद सिद्ध होता है।

२ **अल्पज्ञ** होते हैं।

३ **परिच्छिन्न** होते हैं। अर्थात् एक देशमें रहनेवाले हैं।

४ **अनीश** होते हैं।

५ **परतन्त्र** अदृष्टके अधीन (वशमें) होते हैं।

६ **अविद्या-मोहित** होते हैं।

७ **बन्ध-मोक्ष-सहित** हैं क्योंकि इनको ही बन्ध है और मोक्ष भी होता है।

८ **प्रत्यक्ष** हैं क्योंकि अपना स्वरूप किसीको परोक्ष नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष है।

कीट, पतङ्गसे लेकर ब्रह्मा पर्यन्त जितने शरीर-धारी हैं उन सबको '**मैं हूं**' ऐसा प्रत्यक्षात्मक ज्ञान रहता है, '**मैं नहीं हूं**' ऐसा किसीको ज्ञान नहीं है, अतः जीव प्रत्यक्ष हैं।

यद्यपि ईश्वरको भी अपने स्वरूपका प्रत्यक्ष होता रहता है तथापि ईश्वरके स्वरूपका प्रत्यक्ष जीवोंको नहीं होता है अतः ईश्वर परोक्ष कहा जाता है। और जीवोंके स्वरूपका प्रत्यक्ष ईश्वर और जीव दोनोंको रहता है अर्थात् जीवके स्वरूपको स्वयम् जीव और ईश्वर दोनों जानते हैं, अतः आत्मा (जीव) प्रत्यक्ष कहे जाते हैं।

उक्त स्वरूपके जो हैं वे जीव नामधारी 'त्वम्' पदके वाच्य हैं अर्थात् त्वम् पदसे जाने जाते हैं।

यद्यपि अहम् पदका लक्ष्य अर्थ कूटस्थ मात्र है अपने उस

स्वरूपको जीव नहीं जानते हैं तथापि अहम् पदका वाच्य अर्थ जो "अन्तःकरण-विशिष्ट चेतन अथवा स्थूल,सूक्ष्म संघात-विशिष्ट चेतन" है उसे "मैं हूं" इस रूपसे जीव जानते हैं अतः विवेक-ज्ञानसे पूर्व भी जीवोंको अन्तःकरण-विशिष्ट चेतनरूपसे अथवा स्थूल, सूक्ष्म संघात-विशिष्टचेतनरूपसे अपने स्वरूपका प्रत्यक्षात्मक ज्ञान रहता है।

और ईश्वरकी उपाधि जो माया है उसमें शुद्ध सत्त्वगुण है, अतः ईश्वरमें सर्वशक्ति, सर्वज्ञता आदि धर्म रहते हैं।

जीवकी उपाधि जो अविद्या है, उसमें मलिन सत्त्वगुण रहता है अतः जीवमें अल्पशक्ति, अल्पज्ञता आदि धर्म रहते हैं।

आभासवादमें बाधसामानाधिकरण्य तथा मुख्यसामानाधिकरण्य दोनोंसे जीव,ब्रह्मका अभेद माना गया है।

जीवके आभास अंशका (चिदाभासका) बाध करके जीवसे ब्रह्मका अभेद बाधसामानाधिकरण्यसे माना गया है।

और जीवके कूटस्थ अंशका (अधिष्ठान चेतनका) ब्रह्मसे अभेद मुख्य सामानाधिकरण्यसे माना गया है।

आभासवादमें महाकाशरूप बिम्बके प्रतिबिम्बका "अधिष्ठानरूप उपादान (कारण) घटाकाश है।

और उस प्रतिबिम्बका परिणामी उपादान जल है।

और महाकाशरूप बिम्ब और जल-सहित घटरूप उपाधि इन दोनोंकी जो सन्निधि (सन्निकर्ष) है वही सन्निधि उस प्रतिबिम्बका निमित्त कारण है। यद्यपि उस प्रतिबिम्बका बाध करके ही महाकाशरूप

बेम्बसे घटाकाशका मुख्य अभेद होता है किन्तु जब तक महाकाशरूप बेम्बकी और जल-सहित घटरूप उपाधिकी सन्निधि, जो प्रतिबिम्बका निमित्त कारण है, रहती है तब तक बाधित प्रतिबिम्बकी अनुवृत्ति (प्रतीति) होती है, इसीको **बाधितानुवृत्ति** कहते हैं।

और मुखरूप बिम्बके प्रतिबिम्बका **अधिष्ठानरूप उपादान** दर्पण है। और उस प्रतिबिम्बका **परिणामी उपादान** अविद्या है। मुखकी और दर्पण रूप उपाधिकी सन्निधि उस प्रतिबिम्बका **निमित्त कारण** है।

उसी प्रकार शुद्ध चेतनके प्रतिबिम्बका (चिदाभासका) **अधिष्ठान रूप उपादान** कूटस्थ चेतन है।

नाना बुद्धि अथवा **अज्ञान-अंश** (व्यष्टि अज्ञान) या **अविद्या** किम्वा **अन्तःकरण** उस प्रतिबिम्बरूप जीवका **परिणामी उपादान** है। और उस प्रतिबिम्बरूप जीवका **निमित्त कारण** प्रारब्ध है।

चिदाभास जब बुद्धि वा अज्ञानरूप अपनी उपाधिके साथ अपने चिदाभास स्वरूपका बाध करके जीव वाचक 'अहम्' पदके लक्ष्य अर्थ कूटस्थ चेतनका, जो अपना स्वरूप है, अभिमान करके अपने बिम्बरूप शुद्ध चेतनसे पूर्व कालसे ही सिद्ध जो अभेद है उसको जानता है वह चिदाभास मुक्त है। दूसरे चिदाभास बद्ध हैं।

यद्यपि 'अहं ब्रह्मास्मि' इस ज्ञानके समयमें ही अविद्यारूप परिणामी उपादानके नाश होनेसे उसके कार्य जगत्-सहित चिदाभासका बाध हो जाता है तथापि जब तक प्रारब्ध रूप निमित्त कारण रहता है तब तक बाधित देहादि जगत्-सहित चिदाभासकी अनुवृत्ति (प्रतीति) होती रहती है इसीको **जीवन्मुक्ति** कहते हैं। और जीवन्मुक्तके प्रारब्धका जब अन्त हो जाता है, तब उन्हें **विदेह मुक्ति** होती है।

जीवन्मुक्तिको जीवन्मोक्ष तथा विदेहमुक्तिको विदेहमोक्ष भी कहते हैं।

आभासवादियोंके एक देशीका मत

कई एक आभासवादी अविद्या-सहित या बुद्धि-सहित अथवा अन्तःकरण-सहित केवल आभासको **जीव** कहते हैं, और माया-सहित केवल आभासको **ईश्वर** कहते हैं।

इस मतमें **अविद्या और उसमें शुद्ध चेतनका आभास** ये दोनों ही मिलकर जीव कहे जाते हैं।

माया और उसमें शुद्ध चेतनका आभास ये दोनों ही मिलकर ईश्वर कहे जाते हैं।

इस मतमें पूर्व-मतानुसार माया तथा अविद्याके अधिष्ठान चेतनका, ईश्वर तथा जीवके स्वरूपमें ग्रहण नहीं है अर्थात् **माया और मायाका अधिष्ठान चेतन तथा मायामें शुद्ध चेतनका आभास** ये तीनों मिलकर ईश्वर नहीं कहे जाते हैं।

और **अविद्या** तथा **अविद्याका अधिष्ठान चेतन** और **अविद्यामें शुद्ध चेतनका आभास** ये तीनों मिलकर जीव नहीं कहे जाते हैं।

इस मतमें जीव और ईश्वरका अथवा जगत् और ईश्वरका अभेद **बाध सामानाधिकरण्य** से कहा गया है।

जैसे—किसी मनुष्यको दूरत्व आदि दोषसे किसी स्थाणुमें अर्थात् किसी शाखा-शून्य (ठुंठ) वृक्षमें मनुष्यका निश्चयात्मक ज्ञान हो रहा है और वहां दूसरे विवेकी मनुष्य कह रहे हैं कि—"यह पुरुष नहीं है, स्थाणु है" किन्तु दृढ़ निश्चय रहनेके कारण भ्रान्त पुरुष उसे ही मिथ्या समझ कहने लगता है कि **"स्थाणुः पुरुषः"** अर्थात् दूसरेसे कथित स्थाणु, पुरुष है स्थाणु नहीं है। पश्चात् स्थाणुके तत्त्व ज्ञान होनेपर वह संभ्रान्त मनुष्य स्थाणुमें पुरुषका बाध करके स्थाणुसे पुरुषका अभेद-निश्चय करता है। जैसे-**पुरुषः स्थाणुः** पुरुष, स्थाणु है, पुरुष नहीं है" अर्थात् जिसको हम पुरुष समझते थे वह पुरुष नहीं है। इस प्रकार पुरुषका बाधकरके ही पुरुषसे स्थाणुका अभेद प्रतिपादन किया जाता है। वह अभेद बाधसामानाधिकरण्यमें किया जाता है।

उसी प्रकार अनादि कालसे निश्चित जीवका या अनेक प्रकारके जगतका बाध करके ही ब्रह्मसे जीवका या जगतका अभेद-निश्चय होता है। जैसे-'**तत्त्वमसि**' यहां वाक्य भेदसे **त्वम्** (जीव) तम्

(ब्रह्म) असि (है) यह अर्थ होता है अर्थात् "जीव ब्रह्म है, जीव नहीं है" और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् यह समस्त प्रपञ्च ब्रह्म है प्रपञ्च नहीं है' इस प्रकार जीव तथा प्रपञ्च (जगतका) बाध करके जीवसे या जगतसे ब्रह्मका अभेद प्रतिपादन उक्त श्रुतियोंमें किया गया है उसीको बाधसामानाधिकरण्य कहते हैं।

उसी प्रकार मिथ्या वस्तुका बाध करके सत्य वस्तुके साथ अभेद प्रतिपादनमें ही अभेद-बोधक समस्त श्रुतियोंका तात्पर्य है।

इसलिये इस मतमें भागत्यागलक्षणाका स्वीकार नहीं है किन्तु जहत् लक्षणा का स्वीकार है।

जैसे—गंगायां ग्रामः अर्थात् गंगामें ग्राम है, यहां गंगा पदका प्रवाह रूप अर्थ है उसमें ग्रामकी सत्ता असंभव है, अतः ग्राम शब्दका अन्वय (संगति) 'गंगा' शब्दके साथ नहीं होता है इस अन्वयकी अनुपपत्तिके कारण गंगा शब्दका 'गंगा-तीर' अर्थ होता है।

यहां 'गंगा' पदका समस्त वाच्य अर्थका त्याग हो जाता है। और उसका तीर (तट) अर्थ हो जाता है, केवल गंगा के सम्बन्धी मात्रका ग्रहण किया जाता है अर्थात् गंगाका तीर यह अर्थ होता है उसीको 'जहत् लक्षणा' कहते हैं।

इसी प्रकार जीव और जगतके समस्त वाच्य अर्थका त्याग करके जीव और जगतके संबन्धी ब्रह्मका ग्रहण है।

पञ्चम रत्न समाप्त।

षष्ठ रत्न

प्रतिबिम्बवाद

इस वादमें आभासवादकी तरह प्रतिबिम्ब मिथ्या नहीं है किन्तु ग्रीवास्थ मुखमें प्रतिबिम्बत्वकी जो प्रतीति होती है अर्थात् ग्रीवास्थ अपने मुखका दर्पण-स्थित भान होना मिथ्या है। प्रतिबिम्बत्व धर्मके मिथ्या होनेपर भी स्वरूपसे प्रतिबिम्ब मिथ्या (कल्पित) नहीं कहा जा सकता है क्योंकि प्रतिबिम्बको बिम्बसे इस मतमें अभेद माना गया है इसलिये प्रतिबिम्बको मिथ्या कहनेसे बिम्ब भी मिथ्या हो जाता है अतः प्रतिबिम्ब मिथ्या नहीं है किन्तु अपने ग्रीवा (कण्ठ) प्रदेश-स्थित बिम्बरूप मुखमें ही प्रतिबिम्बत्वकी प्रतीति होती है वह प्रतीति मात्र मिथ्या है। अर्थात् मुखरूप बिम्बमें जो प्रतिबिम्बत्वका ज्ञान होता है वह भ्रम (मिथ्या) है।

आभासवादमें जिस प्रकार चिदाभास मिथ्या माना गया है उसप्रकार प्रतिबिम्बवादमें प्रतिबिम्बको मिथ्या नहीं माना है क्योंकि इस मतमें प्रतिबिम्बसे बिम्ब भिन्न नहीं है किन्तु अभिन्न है और सत्य है, इसलिये प्रतिबिम्ब भी सत्य ही है। जैसे--मुखके सन्निधान (समीप) दर्पण होनेसे नेत्रकी वृत्ति नेत्रसे निकलकर दर्पणमें जाती है किन्तु दर्पणसे आगे नहीं जा सकती है, क्योंकि दर्पणके पृष्ठभागमें जो सिन्दुरकी तरह कोई द्रव्य लगा हुआ रहता है वही वृत्तिको रोक देता है तब रुकी हुई वृत्ति प्रतिहत (उल्टी) होकर मुखकी तरफ घूमकर मुखकोही विषय करती है दर्पणमें जाना तथा लौटकर मुखकी तरफ आना अतिसूक्ष्म समयमें नेत्र-वृत्तिकी इस क्रियासे मुख ही

प्रतिमुखरूपसे भान होने लगता है अर्थात् बिम्बको ही वृत्ति विषय करती है।

किन्तु दर्पण रूप सन्निधानसे ऐसा ज्ञान होता है कि—"मैं दर्पणमें प्रतिबिम्बको देखता हूं तथा मेरा मुख पश्चिमकी तरफ है तो प्रतिबिम्ब का मुख पूर्वकी तरफ है तथा मुझसे भिन्न कोई प्रतिबिम्ब दर्पणमें है इस प्रकारका भ्रम होने लगता है। यद्यपि वास्तवमें बिम्बसे भिन्न कुछ भी नहीं है तथापि दर्पणके सन्निधानसे ही बिम्बसे भिन्न प्रतिबिम्ब भान होने लगता है।

उसी प्रकार सिद्धान्तमें भी ब्रह्म चैतन्यसे भिन्न कुछ भी नहीं है *किन्तु अज्ञानके सन्निधानसे ब्रह्म चैतन्य ही जीव चैतन्य रूपसे* भासित होता है।

शंका—विवरणकारके मतमें, ईश्वर तथा जीव दोनोंकी उपाधि एक ही अज्ञान है, अतः दोनोंको अल्पज्ञ कहना चाहिये।

समाधान—उपाधिका यह स्वभाव होता है कि वह अपने दोष प्रतिबिम्बमें ही संक्रान्त करती है किन्तु बिम्बमें उपाधिके दोषोंका सम्पर्क नहीं होता है।

(दृष्टान्त) जैसे-ग्रीवामें (कंठ प्रदेशमें) स्थित जो अपना मुख है वह बिम्ब है और उस मुखका दर्पणमें प्रतिबिम्ब रूपसे भान होता है, और उस प्रतिबिम्बित मुखकी उपाधि दर्पणका सन्निधान है।

उस दर्पण रूप उपाधिके जो अनेक दोष नील रङ्ग, पीत रङ्ग,

लघु रूप, दीर्घरूप आदि हैं वे दोष प्रतिबिम्बित मुखमें ही दीखते हैं। ग्रीवास्थ जो असल मुख है उसमें दर्पणके दोष भासित नहीं होते हैं।

(दार्ष्टान्तिक) वैसे यहां दर्पणके स्थानमें अज्ञान है।

उसमें शुद्ध ब्रह्मका प्रतिबिम्ब रूपसे भान होता है वही प्रतिबिम्ब जीव कहलाता है और उस प्रतिबिम्बरूप जीवकी उपाधि अज्ञान है अतः उपाधिभूतअज्ञान-कृत दोष अल्पज्ञता आदि धर्म जीवमें ही संक्रान्त होते हैं। बिम्ब रूप ईश्वरमें उपाधिके धर्मोंका अणुमात्रसे भी सम्पर्क नहीं होता है, अतः ईश्वरमें सर्वज्ञता आदि धर्म रहते हैं और जीवमें अल्पज्ञता आदि धर्म माने जाते हैं।

यद्यपि प्रतिबिम्बवादमें शुद्ध ब्रह्म ही ईश्वर है। 'अतः ईश्वरमें सर्वज्ञता आदि धर्मका रहना सम्भव नहीं है, तथापि जीवकी अल्पज्ञता आदि धर्मकी अपेक्षा शुद्ध ब्रह्ममें बिम्बत्व (बिम्बपना) ईश्वरत्व (ईश्वरपना) तथा सर्वज्ञत्व (सर्वज्ञ होना) आदि धर्मोंका आरोप किया जाता है। वास्तवमें तो कुछ धर्म ईश्वरमें नहीं है।

इस प्रकार बिम्बभूत ईश्वरमें कल्पित सर्वज्ञता आदि धर्म रहते हैं और प्रतिबिम्ब जीवमें कल्पित अल्पज्ञता आदि धर्म रहते हैं। आभासवाद और प्रतिबिम्ब वादका यह भेद है कि आभासवादमें आभास मिथ्या होता है और प्रतिबिम्बवादमें प्रतिबिम्ब मिथ्या नहीं, सत्य है। किन्तु प्रतिबिम्बित्व मिथ्या है।

प्रतिबिम्बवादका रहस्य

प्रतिबिम्बवादीका यह सिद्धांत है कि दर्पणमें जो मुखका

प्रतिबिम्ब है वह मुखका आभास (छाया) नहीं है क्योंकि छाया (परछाईं) का यह स्वभाव है कि जिस दिशामें छायावान् वस्तुका मुख और पृष्ठ रहता है उसी दिशामें छाया (आभास) अर्थात् परछाईं का भी मुख और पृष्ठ रहता है और यहां दर्पणमें प्रतिबिम्बका मुख और पृष्ठ (पीठ) अपने असल छायावान (बिम्ब) के मुखसे विपरीत दृष्ट होता है। आभासका यह स्वभाव लोगोंमें दृष्ट नहीं है अतः दर्पणमें मुखका आभास (छाया) नहीं है। किन्तु दर्पणको विषय करनेके लिये नेत्र-द्वारा जो अन्तःकरणकी वृत्ति निकलती है वह वृत्ति दर्पणको विषय (ग्रास) करके तत्काल ही दर्पणको छोड़ दर्पणमें परांमुख होकर (लौटकर) ग्रीवामें स्थित जो मुख है उसको ही विषय (ग्रास) करती है।

जैसे—भ्रमणके वेगमें अलातका चक्रकी तरह भासित होता है किन्तु वह यथार्थमें चक्र (चाक) नहीं है, वैसे ही मुखको विषय करनेमें जो अन्तःकरण की वृत्तिका वेग है उस वेगसे ही मुख दर्पणमें भासित होता है किन्तु मुख ग्रीवामें ही स्थित है। दर्पणमें मुख नहीं है और मुखकी छाया (आभास) भी नहीं है।

वृत्तिके वेगसे जो दर्पणमें मुखकी प्रतीति होती है वही दर्पणमें मुखका प्रतिबिम्बभाव है, किन्तु दर्पणमें प्रतिबिम्ब नहीं है। इस प्रकार प्रतिबिम्बवादमें बिम्ब ही उपाधिके सम्बन्धसे प्रतिबिम्ब रूप तथा बिम्बरूप दोनों रूपसे भासित होता है। इस प्रकार विचार करनेसे बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव नहीं है अर्थात् एक पदार्थमें बिम्ब-भाव और दूसरे पदार्थमें प्रतिबिम्बभाव इस मतमें नहीं है।

वैसे अज्ञान रूप उपाधिके सम्बन्धसे ही असङ्ग चेतनमें बिम्बत्व रूप धर्म अर्थात् जीवभाव प्रतीत होता है।

विचार दृष्टिसे सर्व धर्म-रहित चेतनमें ईश्वरत्व (ईश्वर भाव) और जीवत्व (जीव भाव) कुछ भी धर्म नहीं है।

धर्म-विशिष्ट धर्मी चेतनका स्वरूप नहीं है किन्तु केवल धर्मी मात्र वास्तव स्वरूप है उसमें ईश्वरभाव तथा जीवभाव दोनों कल्पित हैं।

अज्ञानसे चेतनमें जो जीव भावकी प्रतीति होती है वही चेतनका प्रतिबिम्बभाव है, वह मिथ्या है किन्तु प्रतिबिम्बरूप चेतन मिथ्या नहीं है। अतः बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव अर्थात् बिम्बपना और प्रतिबिम्बपना धर्म मिथ्या है किन्तु बिम्ब और प्रतिबिम्बका स्वरूप मिथ्या नहीं है क्योंकि बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनोंका स्वरूप दृष्टान्तमें मुखही है और दार्ष्टान्तिकमें चेतन ही है, वह सत्य है।

विवरणकारने अपने विवरण ग्रन्थमें, **अज्ञानमें प्रतिबिम्बको** जीव कहा है और ईश्वरको बिम्ब कहा है।

अज्ञानका आश्रय और विषय

भामतीकार वाचस्पतिमिश्रके मतमें अज्ञानका आश्रय जीव है और अज्ञानका विषय ब्रह्म (शुद्ध चेतन) है जैसे–दाहका आश्रय अग्नि है और दाहका विषय काष्ठ है और जैसे घट-पटके ज्ञानका आश्रय अन्तःकरण है और घट-पटके ज्ञानके विषय घट-पट हैं।

'घट-पट' कहना उपलक्षण मात्र है, 'घट-पट' कहनेसे समस्त जगतका ग्रहण करना चाहिये।

इस प्रकार **'भिन्नाश्रय भिन्न विषय अज्ञान** माना गया है।

विवरणकारके मतमें **"मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम्"** इस श्रुतिके अनुरोधसे अज्ञान (माया) का आश्रय शुद्ध चेतन है। क्योंकि उक्त श्रुतिके **"मायिनन्तु महेश्वरम्"** अर्थात् माया-उपहित चेतनको ईश्वर जानना चाहिये" इस कथनसे मायाका (अज्ञानका) शुद्ध चेतन ही आश्रय है ऐसा निश्चित होता है और वही शुद्ध चेतन अज्ञानका विषय भी है।

इस मतमें **'स्वाश्रय स्वविषय अज्ञान माना गया है'** अर्थात् अज्ञानका जो आश्रय है वही अज्ञानका विषय होता है। जैसे-अग्निका आश्रय काष्ठ है। क्योंकि दो काष्ठोंके अधिक घर्षण करनेसे उससे अग्नि उत्पन्न होती है और वनमें आपसे आप कई एक वृक्षोंसे आग उत्पन्न हो जाती है इसलिये काष्ठ अग्निका आश्रय कहा जाता है और उसीके आगसे वह काष्ठ जल भी जाता है अतः अग्निका विषय भी काष्ठ होता है। उसी प्रकार अज्ञानका शुद्ध चेतन आश्रय भी है और विषय भी है।

इस मतका यह अभिप्राय है कि जैसे-ज्ञानके विषय घट आदि हैं और घट आदिका प्रकाश (भान) रूप ही ज्ञानकी विषयता घट आदिमें है, उसी प्रकार अज्ञानका विषय शुद्ध चेतन है।

और स्वरूपका आच्छादन (आवरण) ही अज्ञानकी विषयता शुद्ध चेतनमें है ।

जीवभाव और ईश्वरभाव अज्ञान-कृत हैं अर्थात् अज्ञानके अधीन हैं अतः अज्ञान-कृत जीव अज्ञानका आश्रय नहीं हो सकता है । शुद्ध चेतन ही अज्ञानका आश्रय हो सकता है और अज्ञानका विषय तो दोनों मतमें शुद्ध चेतन ही है । संक्षेप शारीरकमें ऐसा कहा भी है कि

आश्रयित्व विषयत्व भागिनी निर्विभागचितिरेव केवला

किन्तु सांसारित्व आदि धर्म जीवमें ही रहते हैं। क्योंकि जीवकी उपाधि मलिन है ।

वे सांसारित्व आदि धर्म भी वस्तुतः नहीं हैं। किन्तु अज्ञानमें भासित मात्र होते हैं यदि अज्ञान नहीं रहता तो जीवभाव या ईश्वर भावकी प्रतीति ही नहीं होती किन्तु केवल शुद्ध ब्रह्म चैतन्य ही भासित होता ।

और यह जीवभाव तथा ईश्वरभाव अज्ञानी लोगोंकी दृष्टिमें तो सत्यकी तरह ही भासित होते हैं और ज्ञानी (विवेकी) की दृष्टिमें मिथ्या रूपसे भासित होते हैं । षष्ट रत्न समाप्त

सप्तम रत्न

अवच्छेद वाद

अवच्छेदवादमें आभासवाद या प्रतिबिम्बवादकी तरह जीव और ईश्वरके स्वरूप नहीं माने गये हैं ।

किन्तु अवच्छेदवादमें अन्तःकरण-अवच्छिन्न चेतन्य जीव है और माया-अवच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है ।

अर्थात् अन्तःकरणने चेतनके जिस प्रदेशको अवच्छेद किया है उस चैतन्यको तथा अन्तकरणको अर्थात् अन्तःकरण-विशिष्ट चेतनको जीव संज्ञा होती है और उसको ही प्रमाता कहते हैं।

प्रमाता रूपी जीव ही कर्त्ता, भोक्ता तथा संसारी है और अन्तः-करण-उपहित चैतन्य अर्थात् अन्तःकरणके अधिष्टान चैतन्यको **जीवसाक्षी** संज्ञा होती है। शास्त्रोंमें उसी साक्षीको कूटस्थ तथा पारमार्थिक जी कहा गया है।

वह साक्षी असंग, निर्लेप है केवल जड़ अन्तःकरणको स्फूर्तिशाली करता है अर्थात् अन्तःकरणमें प्रकाश करनेका स्वभाव उसीसे होता है।

इस तरह एक ही अन्तःकरण प्रमाता चैतन्यका तो विशेषण है और साक्षी चैतन्यकी उपाधि है उपाधिके स्वरूप तथा विशेषणके स्वरूपका प्रथम निरूपण हो चुका है।

और **माया विशिष्ट चैतन्यको ईश्वर कहते हैं** अर्थात् जिस चैतन्यके प्रदेशको माया अवच्छेद करती है उस चैतन्य तथा मायाको ईश्वर कहते हैं। ईश्वर ही सृष्टिका निमित्त तथा उपादान कारण है। भक्तों पर अनुग्रह करना तथा सृष्टि-करना, पालन करना, लय करना इत्यादि क्रियाका कर्त्ता **यही माया-विशिष्ट चैतन्य (ईश्वर)** है और माया-उपहित चैतन्य अर्थात् मायाके अधिष्ठान शुद्ध चैतन्यको **ईश्वर साक्षी** कहते हैं। ईश्वर साक्षी तो असंग, निर्लेप तथा अकर्त्ता है उसके द्वारा

मायामें केवल सत्ता-स्फूर्त्ति होती है अर्थात् उसको सत्ता तथा प्रकाशसे ही इस मायारूप प्रपंचका भान होता है।

माया-विशिष्ट चैतन्य (ईश्वर) के विशेषण शुद्ध सत्व गुणवती माया होनेके कारण ईश्वर **सर्वज्ञ** हैं तथा मायारूप विशेषण एक है इसलिये विशिष्ट चैतन्य रूपी ईश्वर भी **एक** हैं।

माया सब प्रपंचको व्याप्त करके विद्यमान है अर्थात् प्रपञ्चके सब देशमें माया है अतः माया-विशिष्ट चैतन्य अर्थात् ईश्वर भी प्रपञ्चके सब देशमें हैं इस अभिप्रायसे ही ईश्वर (माया-विशिष्ट चैतन्य) को **विभु** कहा है और मायामें सर्व प्रपञ्चके उत्पन्न करनेकी शक्ति है इसलिये उस माया-विशिष्ट चैतन्यको शास्त्रमें **सर्व शक्तिशाली** कहा है।

ईश्वरको **परोक्ष** अर्थात् जीवोंके परोक्ष कहा है तथा वह मायाविशिष्ट चैतन्य मायाके अधीन नहीं रहता है किन्तु मायाको अपने अधीन रखता है इसलिये **मायी** कहा है।

तथा **बंध-मोक्ष-रहित** हैं क्योंकि माया-विशिष्ट चैतन्यको अपने स्वरूपका नित्य ज्ञान है कभी भी अपने स्वरूपमें आवरण नहीं है अतः ईश्वर बंध-मोक्ष-रहित हैं और वही माया-विशिष्ट चैतन्य तत् पदका वाच्य अर्थ है।

मायासे ईश्वरका संबन्ध कभी नहीं छूटता है और ईश्वरसे लेकर द्वैत प्रारम्भ हो जाता है, इसी अभिप्रायसे पूर्वमें एक जगह **ईश्वर मायाके अधीन** हैं, ऐसा कहा गया है।

अविद्यारूप वासनामय अन्तःकरण विशेषण रहनेके कारण

अन्तःकरण-विशिष्ट चैतन्य अल्पज्ञ, अल्पशक्ति और अनीश हैं। तथा अन्तःकरण परिच्छिन्न (एक देशी) होनेके कारण अन्तःकरण-विशिष्ट चैतन्य भी परिच्छिन्न है। तथा अन्तःकरणमें अभानापादक तथा असत्त्वापादक आवरण रहनेके कारण अन्तःकरण-विशिष्ट चैतन्य भी अविद्या-मोहित, बन्ध-मोक्षवाला, कर्मोंके अधीन तथा अपरोक्ष है यह जीव त्वम् पदका वाच्य अर्थ है।

भाग त्याग लक्षणासे जीव भी ईश्वरका ही स्वरूप है ईश्वरसे भिन्न नहीं है, और पूर्वमें जो ईश्वर और जीवके स्वरूप तथा धर्म विभिन्न कहे गये हैं सो केवल विशेषणकी विभिन्नतासे ही कहे गये हैं अर्थात् माया तथा अन्तःकरण यह दोनों विशेषणोंके स्वरूप तथा लक्षण विभिन्न होनेके कारण ही विशिष्ट चैतन्यमें विलक्षणता (विभिन्नता) होती है किन्तु ये दोनों विशेषण अर्थात् माया और अन्तःकरण मिथ्या होनेके कारण-विशिष्ट चैतन्यके स्वरूपको विरूप (दुष्ट) नहीं कर सकते हैं अर्थात् चैतन्यके अद्वैत सत्-चित्-आनन्द स्वरूपको बिगाड़ नहीं सकते हैं।

'तत्त्वमसि' के तत् पद और त्वम् पदकी एकता (अभेद) भाग त्याग लक्षणासे सिद्धान्तमें कहा गया है जैसे-"सोऽयं देवदत्तः" अर्थात् वही यह देवदत्त है" यहां 'सः' का अर्थ तद्देश-काल-विशिष्ट है और 'अयम्' का एतद्देशकाल-विशिष्ट अर्थ है। सारांश—इस वाक्यका यह अर्थ सिद्ध होता है कि जिस देवदत्तको पटनेमें देखा था वही यह देवदत्त हमारामने विद्यमान

है" यहां **सः** का और **अयम्** का अर्थ विभिन्न है क्योंकि **सः** का तद्देशकाल-विशिष्ट अर्थ होता है और **अयम्** का एतद्देशकाल-विशिष्ट अर्थ होता है, इस प्रकार विभिन्न अर्थ होते हुए भी दोनोंकी एकता भागत्यागलक्षणासे होती है अर्थात् **सः** में और **अयम्** में जो विशेषण अंश तद्देशकाल और एतद्देश-काल है उन दोनों विशेषण भागको छोड़कर विशेष अंश जो देवदत्त है उसकी एकता होती है।

उसी प्रकार '**तत्**' पदका अर्थ **माया-विशिष्ट चेतन** और '**त्वम्**' पदका **अन्तःकरण-विशिष्ट चेतन** अर्थ है वहां विभिन्न अर्थ होनेसे दोनोंकी एकता असम्भव है किन्तु भाग त्याग-लक्षणासे अर्थात् विशेषण भाग **माया** और **अन्तःकरण** दोनोंका परित्याग कर देनेसे विशेष अंश चेतनका अभेद **तत्त्वमसि** आदि वेदके महावाक्योंके द्वारा कहा जाता है। ईश्वर, जीवके अभेद-बोधक शास्त्रोंका यही तात्पर्य सर्वत्र ज्ञात होता है क्योंकि उक्त वेदमें ईश्वर और जीवका अभेद (एक रूपता) पुनः पुनः प्रतिपादन किया गया है और ईश्वर, जीवका अभेद अन्यथा नहीं है अर्थात् माया और अन्तःकरणरूप दोनों विशेषण परस्पर विभिन्न होनेके कारण उन विशेषणोंसे विशिष्ट चेतन (ईश्वर, जीव) भी विभिन्न सिद्ध होते हैं और विभिन्न वस्तुका अभेद कहना असंगत है अतः अभेद-बोधक '**तत्त्वमसि**' आदि वेदके अनुरोधसे **भाग-त्यागलक्षणा** का अनुसरण आचार्योंने किया है क्योंकि भाग

त्याग लक्षणासे ईश्वर और जीवका अभेद (एक रूपता) संगत होना है अतः अभेद-बोधक श्रुतियोंका सर्वत्र भाग त्याग लक्षणामें ही तात्पर्य निश्चित होता है।

इस प्रकार **तत्त्वमसि, प्रज्ञानं, ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि** इन महावाक्योंसे ईश्वर और जीवका अभेद (एक रूपता) का दृढ़ निश्चय होता है।

'तत्' पदका अर्थ **ईश्वर** है और **'त्वम्'** पदका अर्थ **जीव** है **असि** पदका अर्थ **अभेद** है अर्थात् **ईश्वर,जीवका अभेद है** यह अर्थ 'तत्त्वमसि' के तीन पद **तत्, त्वम्, असि** का होता है।

ईश्वर, जीवके क्रमसे जो माया और अन्तःकरण विशेषण भाग हैं, उनका परित्याग करके विशेष भाग अर्थात् चैतन्यका जो अभेद है वह *मुख्य सामानाधिकरण्यसे शास्त्रमें कहा गया है।*

सप्तमरत्न समाप्त

अष्टम रत्न

अनिर्वचनीयवाद (दृष्टिसृष्टिवाद या अजातवाद)

सदा असंग, नित्यमुक्त, सत्, चित्, आनन्द ब्रह्ममें कल्पित माया तथा कल्पित अन्तःकरणके सम्बन्धसे प्रतिबिम्बता तथा अवच्छिन्नता असम्भव है जैसे बन्ध्या-सुत कुलालके द्वारा नर-शृंग रूपी दण्डसे निर्मित-घटमें स्थित, मृगतृष्णारूपीजलमें आकाशको प्रतिबिम्बता तथा अवच्छिन्नता असम्भव है।

किन्तु व्यावहारिक यथार्थ आकाशके समान व्यावहारिक

यथार्थ कुलालके द्वारा काष्ठ-दण्डसे निर्मित-घटमें स्थित, पिपासा-निवारक जलमें आकाशकी प्रतिबिम्बता तथा अवच्छिन्नता संभव हो सकती है।

सारांश यह कि-किसी वस्तुमें प्रतिबिम्बता या अवच्छिन्नता आदि दोष तभी कहे जासकते हैं जब दोषाधायक उपाधिकी सत्ता उस वस्तु के समान हो।

यदि उपाधि और उपहितकी सत्ता समान नहीं है विरूप है तो विरूपसत्ताशालिनी उपाधिके सम्बन्धसे उपहितमें कुछ भी विकार नहीं आ सकता है।

इस नियमके अनुसार कल्पित अविद्या अथवा कल्पित अन्तःकरण रूप उपाधिके सम्बन्धसे नित्य मुक्त, सत्, चित् आनन्दरूप ब्रह्ममें प्रतिबिम्बता (प्रतिबिम्बभाव) तथा अवच्छिन्नता (परिच्छेद) नहीं हो सकती है।

अनिर्वचनीयवादमें दो ही सत्ता मानी गयी है (१)प्रातिभासिक सत्ता (२) पारमार्थिक सत्ता।

व्यावहारिक सत्ता नहीं मानी जाती है, अर्थात् ब्रह्मसे भिन्न व्यावहारिक कोई भी पदार्थ नहीं है। स्वप्नकी तरह समस्त जगत्-प्रपञ्च भी प्रातिभासिक हैं अर्थात् उसकी प्रतीति मात्र होती है, ब्रह्म-ज्ञानसे सबका बाध हो जाता है।

[illegible] सत्तासे ही समस्त वस्तुओंकी प्रतीति होती है, जिस-

प्रकार ब्रह्मकी सत्तासे सर्प और रजतकी प्रतीति होती है उसी प्रकार भ्रान्त रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजतकी भी प्रतीति होती है।

अत: असत्‌अविद्या, अन्त:करण आदि विषमसत्ताशाली पदार्थोंसे सत् ब्रह्मका संबन्ध नहीं हो सकता है और संबन्ध नहीं होनेसे प्रतिबिम्बता, अवच्छिन्नता भी नहीं हो सकती है, और प्रतिबिम्बता, अवच्छिन्नता नहीं होनेसे जीवत्व (जीवभाव) भी नहीं हो सकता है क्योंकि प्रतिबिम्बता या अवच्छिन्नता होनेसे हो चेतन में जीवत्वकी प्रतीति होती है, उसके नहीं रहनेसे जीवत्व, ईश्वरत्व कुछ भी नहीं रह सकते हैं।

अत: ब्रह्म चेतनके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है किन्तु एकरस ब्रह्म चैतन्य ही है और यह समस्त जगत् प्रतीतिके समयमें ही है, अत: उसकी कोई सत्ता नहीं मानी गयी है।

जैसे—प्रतीति-समयमें ही रज्जु-सर्प है, किन्तु उसकी सत्ता नहीं है।

"एकमेवाद्वितीयम्" अद्वितीय अर्थात् त्रिविध द्वैत-रहित, (सजातीय भेद, विजातीय भेद, स्वगत भेदोंसे रहित) एकही ब्रह्म है' उक्त श्रुतिका यह अर्थ है।

किन्तु (अज्ञान) ऐसी विलक्षण वस्तु है कि ब्रह्ममें जीवत्व, ईश्वरत्व नहीं रहनेपर भी जीवत्व, ईश्वरत्व प्रतीत (भासित) होने लगते हैं।

जैसे—अविकारी कुन्ती-पुत्र कर्णमें राधा-पुत्रकी प्रतीति होती

का क्रमसे श्रवण, मनन, निदिध्यासन करके विद्यासे अर्थात् अपने स्वरूपके ज्ञानसे अविद्याका विनाशकर अपने वास्तव सत्य स्वरूप सच्चिदानन्दका साक्षात्कार करने लगता है और कृत्य कृत्य हो जाता है, जैसा कहा गया है कि—

"उपायाः सर्व एवैते बालानामुपलालनाः असत्ये वर्त्मनिस्थित्वा ततःसत्यं समीहते"

अर्थात् आत्म-ज्ञान-कारक जितने शास्त्र आदि उपाय हैं सब लड़कोंके खिलौनेकी तरह असत्य (झूठे) हैं।
किन्तु उन असत्य उपायोंका साध्य (प्राप्य) जो होता है; वह सत्य है। असत्य रास्तेपर चलकर उस सत्यको मनुष्य प्राप्त कर लेता है।

सारांश यह कि उपाय सब मिथ्या हैं किन्तु उनका उपेय सत्य है।

जैसे—स्वप्नमें जिस राजाको यह प्रतीति (ज्ञान) होने लगती है कि 'मैं कङ्गाल हूं, दूसरे लोग सब धनी हैं, इस अनुभवसे स्वप्न अवस्थामें वह राजा मिथ्या दरिद्र होता है। और जागनेपर मिथ्या अपने कङ्गालपनको छोड़कर अपने स्वाभाविक राजत्वको प्राप्तकर कृतकृत्य होता है। इसी प्रकार आत्म-ज्ञान होनेपर मिथ्या जीवत्व रूप बन्धको छोड़कर स्वतः सिद्ध (प्राप्त) मोक्षको प्राप्तकर कृत कृत्य होने लगता है पूज्यपाद्भाष्यकार शंकरभगवानने और वार्तिक-कारने भी वृहदारण्यक श्रुतिके अपने व्याख्यानमें कर्णका दृष्टान्त देकर इसका प्रतिपादन किया है।

थी, अर्थात् कर्ण वास्तवमें कुन्तीसे कौमार अवस्थामें सूर्य भगव
दर्शनसे उत्पन्न हुआ था किन्तु कुन्तीने लौकिक निन्दाके भ
अपने यहां कर्णको न रखकर बक्समें भर उसे नदीमें फेंक दिया।

उस बक्सको धृतराष्ट्रके सारथिने पाया और उसे खोल बाल
अपनी स्त्री राधाको दिया।

इस प्रकार वहाँ लालन-पालन आदि मातृत्व प्राप्त हो
यह कौन्तेय, कौन्तेयनामसे नहीं, किन्तु राधेय (राधा-पुत्र) ना
प्रख्यात हुआ, जिससे युधिष्ठिर, दुर्योधन आदि राजपुत्रोंके साथ शस्
विद्या तथा नीति-विद्या सीखनेमें समय समय उन राजपुत्रोंसे त
गुरु द्रोणाचार्यसे कई बार अपमानित होकर कर्ण अत्यन्त दुःखि
होता था। जिस प्रकार कर्ण अपनी उत्कृष्ट क्षत्रिय जातिको सारथि
शूद्र जातिके संबन्ध होनेसे भूलकर अर्थात् अपनेको शूद्र जाति
समझ अनेक प्रकारके तिरस्कारको सहकर दुःखी होता था, प
सूर्य भगवानसे तथा कुन्तीसे अपने जन्मका रहस्य मालूम हो गया त
वह अपनी हीन जातिके भ्रमको छोड़कर स्वतः सिद्ध उत्कृष्ट क्षत्रि
जातिका अभिमान करने लगा।

इसी प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्म चैतन्य भी अनादि, कल्पित अविद्या
के कल्पित सम्बन्धसे अपने ब्रह्म-भावका विस्मरण करके अनिर्वच-
नीय जीवत्वको प्राप्तकर अनेक प्रकारके कल्पित (मिथ्या)
सुख-दुःख, जन्म-मरण आदि यातनाओंका अनुभव करने लगता है।
जब अपने कल्पित शुभ अदृष्ट होनेके कारण कल्पित (मिथ्या)
आचार्यके द्वारा कल्पित (मिथ्या) 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों

का क्रमसे श्रवण, मनन, निदिध्यासन करके विद्यासे अर्थात् अपने स्वरूपके ज्ञानसे अविद्याका विनाशकर अपने वास्तव सत्य स्वरूप सच्चिदानन्दका साक्षात्कार करने लगता है और कृत्य कृत्य हो जाता है, जैसा कहा गया है कि—

"उपायाः सर्व एवैते बालानामुपलालनाः असत्ये वर्त्मनिस्थित्वा ततःसत्यं समीहते"

अर्थात् आत्म-ज्ञान-कारक जितने शास्त्र आदि उपाय हैं सब लड़कोंके खिलौनेकी तरह असत्य (झूठे) हैं।
किन्तु उन असत्य उपायोंका साध्य (प्राप्य) जो होता है; वह सत्य है। असत्य रास्तेपर चलकर उस सत्यको मनुष्य प्राप्त कर लेता है।

सारांश यह कि उपाय सब मिथ्या हैं किन्तु उनका उपेय सत्य है।

जैसे—स्वप्नमें जिस राजाको यह प्रतीति (ज्ञान) होने लगती है कि 'मैं कङ्गाली हूं, दूसरे लोग सब धनी हैं, इस अनुभवसे स्वप्न अवस्थामें वह राजा मिथ्या दरिद्र होता है। और जागनेपर मिथ्या अपने कङ्गालपनको छोड़कर अपने स्वाभाविक राजत्वको प्राप्तकर कृतकृत्य होता है। उसी प्रकार आत्म-ज्ञान होनेपर मिथ्या जीवत्व रूप बन्धको छोड़कर स्वतः सिद्ध (प्राप्त) मोक्षको प्राप्तकर कृत कृत्य होने लगता है पूज्यपादभाष्यकार शंकरभगवानने और वार्तिक-कारने भी बृहदारण्यक श्रुतिके अपने व्याख्यानमें कर्णका दृष्टान्त देकर इसका [illegible] किया है।

निश्चलदासने अपने वृत्तिप्रभाकर नामके ग्रन्थमें कहा है कि:—

ज्यों अविकृत कौन्तेयमें राधा-पुत्र प्रतीति,
चिदानन्द घन ब्रह्ममें जीवभाव तिहि रीति,

इस मतमें दृष्टि अर्थात् प्रतीति मात्र सृष्टि संसार है इसलिये इसको दृष्टि सृष्टिवाद कहते हैं। सृष्टिकी उत्पत्ति नहीं है, अनुत्पन्न वस्तुका कथन है इसलिये अजातवाद भी कहते हैं।

अष्टम रत्न समाप्त

नवम रत्न

एक जीव-वाद

एक जीववादीका यह रहस्य है कि "अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णाम्" इस श्रुतिसे एक ही अज्ञान (अविद्या) समझा जाता है, और एक अज्ञानमें चैतन्यका प्रतिबिम्ब भी एक ही हो सकता है अतः प्रतिबिम्ब जीव एक है नाना (असंख्य) नहीं हैं।

और व्यास भगवानके 'आभास एव च' इस सूत्रमें एक वचनान्त 'आभासः' इस प्रयोगसे भी एक ही जीव समझा जाता है।

और इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपईयते' इस श्रुतिके मायाभिः इस बहुवचनान्त प्रयोगसे माया (अज्ञान) को जो नाना कहा गया है, वह मायाकी नाना शक्ति कहनेमें तात्पर्य है किन्तु

मायाके नानारूप कहनेमें तात्पर्य नहीं है अर्थात् माया एक है किन्तु उसकी नाना शक्ति है इसी तात्पर्यसे **'मायाभिः'** इस बहुवचनान्त पदका उक्त श्रुतिमें प्रयोग किया गया है।

शंका—एकजीव-वादमें बन्ध, मोक्षकी व्यवस्था नहीं हो सकती है। क्योंकि जब एक ही जीव है नाना नहीं है तब कौन बद्ध और कौन मुक्त हो, इसकी व्यवस्था असम्भव है; और एकही जीव बद्ध भी और मुक्त भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बन्ध और मोक्ष दोनों धर्म परस्पर विरुद्ध हैं।

यद्यपि कालके भेदसे एक ही आश्रयमें बन्ध और मोक्ष दोनों धर्म रह सकते हैं। अर्थात् तत्त्व-ज्ञानके पूर्व कालमें यह जीव बद्ध और तत्त्व-ज्ञान हो जानेसे वही मुक्त हो सकता है, किन्तु एक जीवको मुक्त हो जानेपर बद्ध कौन रहेगा, दूसरा तो कोई जीव इस मतमें नहीं माना जाता है, और संसारका सत्यरूपसे भान होना सुखी, दुःखी होना ही जीवका बद्ध होना है। एक जीवकी मुक्तिसे सबकी मुक्ति होनी चाहिये किसीको सुखी, दुःखी नहीं होना चाहिये।

समाधान—अज्ञानके एक होनेसे अज्ञानाश्रय जीव भी एक ही है किन्तु अज्ञानके कार्य अर्थात् अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले अन्तःकरण नाना हैं और नाना अन्तःकरणावच्छिन्न प्रमाता भी नाना हैं, नाना (असंख्य) प्रमाता ही सुखी, दुःखी होते हैं, जीव सुखी, दुःखी नहीं होते हैं और बन्ध, मोक्ष भी जीवको नहीं होते हैं किन्तु

प्रमाताको होने हैं, इस तरह बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था संगत हो सकती है।

शंका—इस मतमें मोक्ष कैसे हो सकता है! क्योंकि अविद्या दो प्रकारकी होती है (१) **मूलाविद्या** अर्थात् कारणरूप अनादि अविद्या (२) **तूलाविद्या** अर्थात् कार्यरूप अविद्या जो पूर्व पूर्व विभ्रम-जन्य संस्कार रूप है। समस्त मतमें अविद्या निवृत्तिरूप ही मोक्ष माना गया है।

यदि कार्य अविद्या-निवृत्तिको मोक्ष कहें तो वह मोक्ष असंभव है क्योंकि देहमें जो आत्मत्वरूप भ्रान्ति है अर्थात् देहके धर्म जो जन्म, मरण आदि हैं उन धर्मोंको अपनेमें आरोप करना **कार्य अविद्या** है। देहमें आत्मत्वबुद्धिरूप भ्रान्ति (कार्य अविद्या) का नाना (असंख्य) भेद स्वीकार करना होता है क्योंकि देह असंख्य हैं अतः उनमें जो आत्मत्वबुद्धि है वह भी असंख्य हो जाती है। उन असंख्य भ्रान्तिज्ञानकी निवृत्ति असम्भव है, किन्तु यत्किञ्चित् भ्रान्तिज्ञानकी निवृति हो सकती है अर्थात् किसी विशेष भ्रान्तिज्ञानकी निवृत्ति संभव है किन्तु ऐसा मोक्ष किसीको अभिलषित नहीं है किन्तु सर्व भ्रान्ति-निवृत्तिको मोक्ष कहते हैं। वही मोक्ष पुरुषार्थ (अभिलषित) है।

और यदि यह कहा जाय कि अज्ञानकी जो आवरण शक्ति है वह कार्य अविद्या है और वह आवरण शक्ति असंख्य है अतः जिस प्रमाताको तत्त्व-ज्ञान हो जाता है उस प्रमाताकी आवरण शक्ति निवृत्त

हो जाती है और जिसे तत्वज्ञान नहीं होता है उस प्रमाताकी आवरण शक्ति निवृत्त नहीं होती है ।

और आवरणशक्तिरूप कार्य अविद्याकी निवृत्ति नहीं होनेपर वह प्रमाता बद्ध (संसारी) रहता है, यह कहना भी असंगत है क्योंकि आवरणशक्ति-विशिष्ट अविद्याको नाना माननेमें उस अविद्यामें प्रतिबिम्ब तथा उपहित चैतन्य (जीव) भी नाना ही सिद्ध हो जाते हैं यह एक जीववादके सिद्धान्तसे विरुद्ध है अतः **कार्य अविद्या (तूलाविद्याकी) निवृत्तिस्वरूप मोक्ष नहीं कहा जा सकता है ।**

और यदि मूलाविद्याको निवृत्तिस्वरूप मोक्ष कहा जाय, तो भी मोक्ष असम्भव हो जाता है क्योंकि तत्व-ज्ञानसे मूलाविद्याकी निवृत्ति होनेपर सबको मोक्ष प्राप्त होना चाहिये क्योंकि सबोंके बन्धका कारण एक मात्र मूलाविद्या ही है उसका विनाश करके ही किसी एक व्यक्तिको भी मोक्ष हो सकता है, यदि आज पर्यन्त कोई मुक्त हुआ है तब तो उसीके तत्व-ज्ञानसे उस मूलाविद्याका विनाश हो चुका है पुनः संसारी, सुखी, दुःखी किसीको नहीं होना चाहिये ।

शास्त्रोंमें शुक, वामदेव आदिको मुक्त कहा गया है अतः उनके मुक्त होनेसे ही सबको मुक्त होना चाहिये। अतः **मूलाविद्या-निवृत्तिस्वरूप भी मोक्ष नहीं कहा जा सकता है** यदि यह कहा जाय कि-शुक, वामदेव आदिको भी मुक्ति नहीं प्राप्त हुई है क्योंकि इस मतमें तो नाना जीव अङ्गीकृत नहीं

है एक ही जीव अज्ञोकृत है अतः किसीको भी मोक्ष नहीं हुआ है यह कहना भी युक्त नहीं है। जब किसी महान् पुरुषको भी मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ है तब उसके लिये कोई प्रयत्न क्यों करे। वह पुरुषार्थ नहीं है। **"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्"** अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान (तत्त्व-ज्ञान) के लिये अधिकारी पुरुषको ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् गुरुके पास जाना चाहिये" इस प्रकारकी श्रुति अप्रमाणित हो जाती है क्योंकि एक जीव-वादमें गुरु-शिष्यभाव असंभव है और मोक्ष-प्राप्त तत्वज्ञानी गुरु भी नहीं हैं। तब **"उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः"** अर्थात् तत्त्ववेत्ता ज्ञानी उस ज्ञानका उपदेश करेंगे' इत्यादि स्मृति भी अप्रमाणित हो जाती है।

क्योंकि एक जीव-वादमें गुरु-शिष्यभाव नहीं हो सकता है। और वेदमें कर्म-काण्ड तथा ज्ञान-काण्डका भिन्न भिन्न अधिकारी कहा गया है वह भी असंगत हो जाता है क्योंकि जब एक ही जीव है, नाना नहीं हैं तब कर्म-काण्डका अधिकारी भिन्न है और ज्ञान-काण्डका अधिकारी भिन्न है, यह कैसे कहा जा सकता है। सारांश यह कि—एक जीव-वाद-पक्षमें समस्त व्यवस्थाका असमञ्जस हो जाता है, अतः एक जीव-वाद-मत मान्य नहीं हो सकता है।

समाधान—एक जीव-वादमें एक ही जीव माना गया है और सब ...स माने गये हैं, जैसे स्वप्न-अवस्थामें स्वप्न द्रष्टा पुरुषके द्वारा

नाना प्रमाता कल्पित किये जाते हैं और स्वप्न-द्रष्टा पुरुष उन कल्पित प्रमाताओंमें किसीको बद्ध और किसीको मुक्त देखता है, किन्तु उन प्रमाताओंके बन्ध और मोक्षके दर्शनसे स्वप्न-दर्शी पुरुषको बन्ध, मोक्ष नहीं होते हैं उसी प्रकार जाग्रत् अवस्थामें भी एक जीवके द्वारा कल्पित नाना (असंख्य) जीवाभास (प्रमाता) हैं, उन प्रमाताओंमें कोई बद्ध और कोई मुक्त होता है। प्रमाताओंके बन्ध या मोक्षसे जीवका बन्ध या मोक्ष नहीं होता है।

बंध, मोक्ष, सुख, दुःख आदि समस्त धर्म प्रमाताके हैं, जीवका एक भी नहीं है इस प्रकार स्वप्न-दृष्टान्तसे बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था, सुख-दुःखकी व्यवस्था तथा गुरु-शिष्यभावकी व्यवस्था इत्यादि समस्त व्यवस्था संगत होती है।

शंका—श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रोंमें शुक, वामदेव आदिको मुक्त कहा है और अस्मदादि जीवोंको संसारकी प्रतीति हो रही है तथा **"अहं अज्ञः" "अहंब्रह्म न जानामि"** अर्थात् 'मैं अज्ञ हूं' मैं ब्रह्मको नहीं जानता हूं, इस प्रकार अज्ञानका अनुभव जीवोंको प्रत्यक्ष रूपसे हो रहा है अतः अस्मदादि जीव बद्ध हैं और शुक, वामदेव आदि जीव मुक्त हैं, यह व्यवस्था नाना जीव माननेसे ही हो सकती है और **'इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते'** इस श्रुतिमें भी अज्ञानको नाना माना है।

उक्त श्रुतिके मुख्य अर्थका त्याग करके अज्ञानकी अनेक शक्तियोंमें लक्षणा करना, इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

और अजामेकाम् इत्यादि श्रुतिमें जो अज्ञानको एक हा गया है वह 'अज्ञानका समूह एक है' इस तात्पर्यसे कहा या है अतः अज्ञानको नाना ही मानना संगत है और नाना ज्ञान माननेसे अज्ञान-विशिष्ट चैतन्यको (जीवको) नाना वीकार करना चाहिये और नाना जीव-वादमें बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था भी अच्छी प्रकार संगत होती है क्योंकि जिस जीवको ह्मका साक्षात्कार होता है उसे अज्ञान-निवृत्तिरूप मोक्ष प्राप्त होता है और जिसे अज्ञान-निवृत्तिरूप मोक्ष नहीं होता है, उसे अज्ञानरूप बन्ध रहता है अतः नाना जीव-वाद मानना समुचित है।

समाधान—अज्ञानको नाना माननेसे जीवोंको भी नाना स्वीकार करनेपर प्रत्येकजीवके प्रति प्रत्येक प्रपञ्चका भेद हो जाता है अर्थात् अपने अपने अज्ञानसे कल्पित प्रपञ्च भी नाना हो जाते हैं तब यो घटस्त्वयादृष्टः स एव मया दृश्यते अर्थात् जिस घड़ेको तुमने देखा था उसीको मैं देखता हूं इस प्रकारकी जो प्रत्यभिज्ञा होती है वह असंगत हो जाती है क्योंकि एक जीवके अज्ञान-कल्पित प्रपञ्चका अनुभव अन्यजीव नहीं कर सकता है किन्तु अपने अज्ञानसे कल्पित प्रपञ्चका अनुभव स्वयम् ही करसकता है इस नियमानुसार एक जीवके अज्ञानसे कल्पित घटका अनुभव दूसरे जीवको नहीं होना चाहिये, अतः उस प्रत्यभिज्ञाके अनुरोधसे एक अज्ञानसे कल्पित एक ही प्रपञ्च मानना समुचित है,इस प्रकार विचार करनेसे एक जीव-वाद

ही मान्य है और शास्त्रमें भी एक ही ईश्वरको जगतकी उत्पत्ति, स्थिति, लयका कारण कहा गया है, अतः नाना जीव-वाद मान्य नहीं है।

और यदि यह कहा जाय कि—समष्टि अज्ञान-विशिष्ट चैतन्यरूप जो ईश्वर है उनके द्वारा रचा हुआ यह प्रपञ्च सब जीवोंके प्रति साधारण है, तो भी अनिर्मोक्ष हो जाता है अर्थात् किसी जीवको भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता है क्योंकि निर्गुण ब्रह्मभावकी प्राप्तिको मोक्ष माना गया है वह नाना जीव-वादमे असंभव है क्योंकि एक जीवके तत्त्व-ज्ञानसे एक जीवके अज्ञानकी ही निवृत्ति हो सकती है अन्य जीवका अज्ञान निवृत्त नहीं हो सकता है अतः अज्ञानका सद्भाव रहता ही है और अज्ञानके सद्भावसे जगत्‌भी रहता है और जगतके रहनेसे ईश्वर भी रहता है और ईश्वरके सद्भावसे अद्वितीय ब्रह्मकी प्राप्तिरूप मोक्ष नहीं हो सकता है इस प्रकार नाना जीव-वादमें मोक्ष असंगत हो जाता है। क्योंकि मुक्त जीवसे अन्य जो बद्ध जीव हैं उन जीवोंका अज्ञान तथा उनके अज्ञानसे कल्पित प्रपञ्च तथा ईश्वर रहते हैं, उनके रहनेसे अद्वितीय ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं, किन्तु सद्वितीय ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है, और अद्वितीय ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होनेसे मोक्ष भी नहीं हो सकता है क्योंकि सिद्धान्तमे अद्वितीय ब्रह्मकी प्राप्ति स्वरूप ही मोक्ष माना गया है। सगुण ब्रह्म (ईश्वर) की प्राप्ति मोक्ष नहीं है। श्रुति—"अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्"। "यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केनकंपश्येत्।"

अर्थात् ब्रह्म शरीरके भीतरमें ही या बाहरमें ही रहने वाला नहीं है किन्तु भीतर, बाहर सबत्र व्यापक है स्थूल नहीं है, अणु भी नहीं है ह्रस्व नहीं है, दीर्घ भी नहीं है, क्योंकि सगुण वस्तुके उक्त सब धर्म हो सकते हैं निर्गुण वस्तुके नहीं हो सकते हैं, और जहांपर अपना आत्मा ही समस्त प्रपञ्च हो जाता है वहां कौन किसको देखे, इत्यादि श्रुतियोंके विमर्श करनेसे **निर्गुण ब्रह्म-प्राप्ति स्वरूप ही मोक्ष-सिद्ध होता है,** अतः नाना जीव मानना असंगत है।

नाना जीव-वाद

समाधान—अज्ञानके भेद होनेसे जीवोंके भेद अवश्य मान्य हैं। अन्यथा बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था नहीं हो सकती है।

और बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था नहीं माननेसे उसके प्रतिपादक शास्त्रभी व्यर्थ हो जाते हैं अतः बन्ध, मोक्षकी व्यवस्थाके लिये नाना जीवोंका अङ्गीकार करना समुचित है। और यह जो आक्षेप किया गया था कि प्रत्येक जीवके प्रति प्रत्येक प्रपञ्चके भेद होनेसे "जिस घड़ेको तुमने देखा है उसी घड़ेको मैं भी देखता हूं" इस प्रकारकी सार्वजनीन (सब लोगोंको) जो प्रतीति होती है, वह नहीं हो सकती है, यह कहना भी युक्ति-युक्त नहीं है। क्योंकि नाना जीव-वादमें यह इष्टापत्ति है अर्थात् जीव जीवके प्रति (प्रत्येक जीवके प्रति) प्रत्येक प्रपञ्चका भेद मानना इष्ट है, क्योंकि सिद्धान्तमें यही माना गया है। और जो पूर्वोक्त प्रत्यभिज्ञाकी असंगति होनेका दोष दिया गया था, वह भी तर्क-रहित है। क्योंकि

जहां पर एकही शुक्तिमें (सीपीमें) दश पुरुषोंको रजत-भ्रम है वहां प्रत्येक पुरुषके अज्ञानसे कल्पित रजत (चान्दी) भी प्रत्येक (भिन्न) ही है, एक नहीं है।

और यदि दस पुरुषोंके भ्रमका विषय एक ही रजत मान लिया जाय तो एक पुरुषको शुक्तिरूपअधिष्ठानके ज्ञानके द्वारा रजत-भ्रम निवृत्त होजानेसे ही अतिरिक्त नौ पुरुषोंको, शुक्तिरूप अधिष्ठानके ज्ञान नहीं होनेपर भी रजत-भ्रम नहीं होना चाहिये, किन्तु उन्हें रजत-भ्रम होता है। अतः रजत एक नहीं है किन्तु दस पुरुषोंके अलग अलग अज्ञान-कल्पित दश रजत वहां भिन्न भिन्न उत्पन्न होते हैं, यद्यपि इस नियमसे एक पुरुषके अज्ञान-कल्पित रजत-भ्रम अन्य पुरुषको नहीं होता है। तथापि जैसे उन पुरुषोंको किसी प्रसंगवशसे "जिस रजतको तुमने देखा था उसी रजतको हमने भी देखा है, इस प्रकारकी जो प्रत्यभिज्ञा होती है वह भ्रमात्मक है, यथार्थ नहीं है।

उसी प्रकार प्रत्येक जीवके अज्ञान-कल्पित प्रत्येक प्रपञ्चके भेद होनेपर भी अर्थात् अन्यके अज्ञान-कल्पित प्रपञ्चका अन्यको प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं होनेपर भी "जो घट तुमने देखाथा वही घट हमने भी देखा है" इस प्रकारकी भ्रमरूप प्रत्यभिज्ञा उत्पन्न होती है अतः प्रत्येक जीवके प्रति, प्रपञ्चके भेद माननेसे उक्त प्रत्याभिज्ञाकी असंगति नहीं होती है। नवमरत्न समाप्त। दशम-रत्न

अथवा उन जीवोंके नाना होनेपर समष्टि अज्ञान-विशिष्ट चैतन्य अथवा समष्टि अज्ञानमें प्रतिविम्बित चैतन्यरूप ईश्वरके द्वारा रचित

यह प्रपंच सब जीवोंके प्रति साधारणरूपसे एक ही है, अतः उत्पत्ति-स्थिति-लय-कारण जो एक परमेश्वरको शास्त्रोंमें कहा है उन शास्त्रोंका भी विरोध नहीं होता है तथा प्रत्येक जीवके प्रति प्रपंचका भेद माननेमें जो कल्पना-गौरव रूप दोष होता था वह भी नहीं होता है और श्रुतियोंके विचारसे, आचार्यके प्रसादसे, जो 'अहं ब्रह्मास्मि' इस रूपका ब्रह्म-ज्ञान है, उस ब्रह्म-ज्ञानसे अधिकारी पुरुषोंके अपने अपने अज्ञान निवृत्त हो जानेसे उस अज्ञानके कार्य भूत लिंग शरीर आदिकी भी निवृत्ति होकर निर्गुण ब्रह्मभाव रूप मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है अतः नाना जीव-वाद ही मानना युक्ति-युक्त है। और यह जो आक्षेप किया गया था कि "नाना जीव-पक्षमें मुक्त पुरुषसे भिन्न दूसरे जीव तथा ईश्वर तथा जगत् भी विद्यमान रहते ही हैं इसलिये "मैं मुक्त हूं अन्य पुरुष बद्ध हैं, यह अन्य प्रपंच है, यह अन्य ईश्वर है, इस प्रकार भेद-दृष्टिका रहना उस मुक्त पुरुषका अनिवार्य है तथा भेद-दृष्टि रहनेसे अद्वितीय निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं हो सकता है, यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि इदं सर्वंयदयमात्मा वाचारंभणं विकारो नामधेयं मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः

इत्यादि श्रुतियोंके विचारसे अधिकारी पुरुषको अज्ञान आदि समस्त जड़ पदार्थ रूप प्रपंच हो कल्पित रूपसे प्रतीत होते हैं और कल्पित प्रतीत होनेसे प्रपञ्च मिथ्या सिद्ध होता है और मिथ्या पदार्थ ब्रह्ममें

द्वैतभाव नहीं कर सकते हैं अतः अधिकारी पुरुषको अद्वितीय ब्रह्मका साक्षात्कार होता है तथा उस सक्षात्कारसे निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति रूप मोक्ष हो सकता है।

शंका—नाना जीव-वादमें आत्म-ज्ञानके द्वारा अपने अपने अज्ञानकीही निवृत्ति होती है। अन्य जीवोंके अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती है अर्थात् अन्य जीवोंके अज्ञान विद्यमान ही रह जाते हैं, अन्य जीवोंके उन अज्ञानके विद्यमान रहनेसे ब्रह्ममें ईश्वरपना ही रहताहै अतः अधिकारी पुरुषको तत्त्व-ज्ञानके द्वारा भी सगुण ब्रह्मकी प्राप्ति रूप ही मोक्ष हो सकता है।

समाधान—लोगोंमें भी अन्य वस्तुके ज्ञानसे अन्य वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती है। जैसे—शुक्तिरूपअधिष्ठानके ज्ञान होनेसे रजतकी प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु शुक्तिकी ही प्राप्ति होती है उसी प्रकार ब्रह्म-निष्ठ, विद्वान गुरुके उपदेशसे अधिकारी जिज्ञासु पुरुषको निर्गुण ब्रह्मका ही ज्ञान होता है, सगुण ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता है अतः निर्गुण ब्रह्मके ज्ञानसे तत्त्ववेत्ता पुरुषको उस निर्गुण ब्रह्मकीही प्राप्ति होती है किन्तु मयामय सगुण ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती है जैसे—शुक्तिमें किसी पुरुषके रजत-भ्रम होते समयमें भी शुक्तिरूप अधिष्ठान-ज्ञानी पुरुषको रजत-भ्रम नहीं होता है किन्तु शुक्ति-ज्ञान ही रहता है, क्योंकि शुक्तिमें रजत वास्तव नहीं है किन्तु कल्पित है, वैसे अन्य पुरुषके अज्ञान-कल्पित रजतका भ्रमात्मक प्रत्यक्ष अन्य पुरुषको नहीं होता है उसी प्रकार मुक्त पुरुषसे भिन्न अज्ञानी पुरुषोंको अपने अपने अज्ञानके वशसे ब्रह्ममें जीव-भाव, ईश्वर-

भाव तथा जगत्भावरूप भ्रान्ति होनेके समयमें भी श्रुतिके और आचार्यके प्रसादसे तत्ववेत्ता पुरुषको मैं ब्रह्म हूं, इस प्रकार अद्वितीय ब्रह्मके साक्षात्कारसे उस आनन्द, एकरस, अद्वितीय, निर्गुण ब्रह्मकी ही प्राप्ति होती है। सगुण ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती है क्योंकि सगुण ब्रह्म (ईश्वर) मायामय होनेसे वास्तव (यथार्थ) नहीं है किन्तु कल्पित है।

भ्रान्तिसे (कल्पना से) दृष्ट पदार्थ वास्तव नहीं होता है किन्तु मिथ्या ही होता है, जैसे-भ्रान्तिसे प्रतीत शुक्तिमें रजत वास्तव नहीं है। उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्ममें भ्रान्तिसे प्रतीत ईश्वरभाव, जीवभाव जगत्भाव कुछ भी वास्तवरूपसे नहीं है किन्तु प्रतीतिमात्र है इस प्रकार नाना जीवोंके प्रति साधारण प्रपंच और असाधारण प्रपंचके भेदको अंगीकार करनेपर भी निर्गुण ब्रह्मभावकी प्राप्तिरूप मोक्ष प्राप्त हो सकता है, अतः जीव नाना हैं, नाना जीवकी उपाधि भी नाना अविद्या-अंश हैं।

कई एक आचार्योंके मतमें जो नाना जीवकी उपाधि नाना अन्तःकरण हैं क्योंकि 'कार्योपाधिरयं जीवः' "कारणोपाधिरीश्वरः" इत्यादि श्रुतिमें कार्यरूप अंतःकरणको ही जीवकी उपाधि कहा गया है। वे अंतःकरण नाना हैं अतः जीव नाना हैं, और ईश्वरकी उपाधि कारणरूप माया एक है अतः ईश्वर एक है। "स्वमपीतो भवति" इस श्रुतिसे सुषुप्ति कालमें लय, जो ब्रह्ममें कथित है यह औपाधिकरूपका कथन है अर्थात्

उपाधिकी लय-प्रयुक्त लय-कथन है। उस अन्तःकरण रूप उपाधिकी लय होनेसे जीवकी औपाधिक लय संभव है।

और यदि अविद्याको जीवकी उपाधि मानें तो सुषुप्तिकी औपाधिक लय-प्रतिपादक उक्त श्रुति संगत नहीं होती है, क्योंकि सुषुप्ति अवस्थामें अविद्याकी लय नहीं होती है किन्तु अन्तःकरणकी लय होती है अतः, उक्त श्रुतिके अनुरोधसे अन्तःकरणको ही जीवकी उपाधि मानना संगत है।

और अन्तःकरणके नाना और परिच्छिन्न होनेके कारण उसमें उपहित जीव भी नाना और परिच्छिन्न सिद्ध होते हैं।

शंका—जीवके एकत्व और नानात्व माननेमें आचार्योंका मतभेद है अर्थात् कई एक वेदान्तके अनुयायी आचार्य एक ही वास्तव जीव मानते हैं, अतिरिक्त सब जीवको जीवाभास मानते हैं, और जीवाभासको ही प्रमाता कहते हैं।

और कई एक वेदान्तके अनुयायी आचार्य नाना जीव मानते हैं, किसीको जीवाभास नहीं कहते हैं, और जीवको ही प्रमाता कहते हैं इस प्रकार परस्पर मत-भेद देखा जाता है और भी कई एक वेदान्त-निष्ठ आचार्य चैतन्यके आभासको (चिदाभासको) जीव कहते हैं और कई एक वेदान्त-निष्ठ आचार्य चैतन्यके प्रतिबिम्बको जीव कहते हैं।

और कई वेदान्त-निष्ठ अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यको जीव कहते हैं तथा कई एक वेदान्त-निष्ठ जीवका अनिर्वचनीय स्वरूप प्रतिपादन करते हैं।

इस प्रकार वेदान्त-सिद्धान्तके रहस्य जाननेवाले आचार्यों में भी परस्पर मत-भेद देखे जाते हैं अतः जिज्ञासुको सर्व मतमें सन्देह हो सकता है अर्थात् कौन मत उपादेय और कौनमत हेय (त्याज्य) है, इसका निर्णय करना जिज्ञासुओंके लिये कठिन है और इस कठिनतासे किसी मतमें भी जिज्ञासुकी श्रद्धा नहीं हो सकती है, अतः सर्वमत त्याज्य हो जाता है।

समाधान—अध्यारोप और अपवाद दोनों से ही अद्वितीय ब्रह्मका ज्ञान सब मतमें होता है। अध्यारोप, अपवादके बिना किसी मतमें ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता है।

अध्यारोप

जिस अधिष्ठानमें जिस वस्तुका वास्तवरूपसे अभाव होते हुए भी जो आरोप (कथन) किया जाता है उसे अध्यारोप कहते हैं।

जैसे—द्वैतरूप प्रपञ्चसे रहित जो ब्रह्म है उसमें इस द्वैत-प्रपञ्च-का जो आरोप है वह अध्यारोप कहलाता है।

अपवाद

आरोपित वस्तुका जो निषेध है उसे अपवाद कहते हैं।

जैसे "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादि श्रुतिसे जो अद्वितीय ब्रह्ममें आरोपित प्रपञ्चका निषेध किया गया है वह अपवाद कहलाता है।

केवल उक्त अध्यारोप, अपवादकी सिद्धिके लिये ही समस्त वेदान्तके मत ग्रहण करने योग्य हैं कोई मत त्याज्य नहीं है।

किन्तु जिस मुमुक्षु (जिज्ञासु) को जो मत सन्तोष-जनक हो उसी मतको वह मुमुक्षु ग्रहण करे, क्योंकि **भिन्नरुचिर्हिलोकः** अर्थात् लोगोंकी अभिरुचि विभिन्न होती है।

इस प्रकार सर्वमतकी प्रक्रियासे प्रत्यक् आत्माका पञ्च कोशोंसे विवेचन करके "अहं ब्रह्मास्मि" इस प्रकारका ब्रह्म-साक्षात्कार अधिकारी जिज्ञासु कर सकता है। वार्तिककार्यने भी कहा है कि—

यया यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि,
सासैव प्रक्रियेह स्यात् साध्वी स्वाच व्यवस्थितिः

अर्थात् जिज्ञासुओंको जिस जिस प्रक्रियासे प्रत्यक् आत्माका बोध हो, वेदान्तशास्त्रको उस प्रक्रियाको ही जिज्ञासु ग्रहण करे, वही प्रक्रिया (पक्ष) उसके लिये मान्य है और उसी पक्षमें उसको आरूढ़ रहना चाहिये।

दशम रत्न समाप्त

एकादश रत्न

वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार जो श्रुति-प्रतिपादित सृष्टिकी उत्पत्तिकी क्रमिक प्रक्रिया है उसका निरूपण करते हैं।

सृष्टि-प्रक्रिया

मायाकी विक्षेपशक्तिकी प्रधानता होनेसे मायाशक्ति-विशिष्ट ब्रह्मसे यह नामरूपात्मक सृष्टि उत्पन्न हुई।

तथा ब्रह्ममें मायाकी ज्ञानशक्तिकी प्रधानता होनेसे माया-विशिष्ट ब्रह्म चेतनमें नामरूपात्मक सृष्टिके उत्पन्न करनेकी इच्छा हुई।

तथा ब्रह्ममें मायाकी क्रियाशक्तिकी प्रधानता होनेसे ब्रह्ममें नामरूपात्मक सृष्टिके उत्पन्न करनेकी शक्ति हुई।

वस्तुतः ब्रह्म इच्छा तथा क्रिया आदिसे रहित हैं तो भी मायाकी भिन्न भिन्न शक्तियोंकी प्रधानता होनेसे ब्रह्ममें सृष्टिके उत्पन्न करनेकी इच्छा होना, उसके अनुकूल चेष्टा करना तथा ब्रह्ममें नामरूपात्मक सृष्टिका उत्पन्न होना, ये सब ब्रह्ममें आरोपित किये जाते हैं।

सूक्ष्म पञ्च भूतोंकी उत्पत्ति

उक्त आरोपके अनुसार माया-विशिष्ट ब्रह्मसे सूक्ष्म आकाश प्रथम उत्पन्न हुआ। आकाश-उपहित माया-विशिष्ट चेतनसे पवन (वायु) उत्पन्न हुआ, वायुसे अर्थात् वायु-उपहित चेतनसे अग्नि उत्पन्न हुई, अग्निसे अर्थात् अग्नि-उपहित चेतनसे जल उत्पन्न हुआ, जलसे अर्थात् जल-उपहित चेतनसे पृथिवी उत्पन्न हुई।

सारांश यह है कि माया-विशिष्ट चेतनसे **आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी** की उत्पत्ति हुई, इसलिये इन भूतोंमें जो सत्ता प्रतीत होती है वह अधिष्ठान ब्रह्मकी है और जो नाम, रूप, गुण मालूम होते हैं वे मायाके और अपने कारणोंके हैं। पञ्च भूतोंमें जो रूपादि गुण हैं वे उनके कारणोंके द्वारा ही आते हैं। जैसे-सर्व प्रथम मायासे प्रतिध्वनिरूपशब्द-सहित आकाश उत्पन्न हुआ।

और आकाशसे वायुकी उत्पत्ति हुई, आकाशका कार्य होनेमें वायुमें आकाशका शब्द गुण आता है, जो 'सीसी' रूपसे वायुमें प्रतीत होता है। यह शब्द अनुकरण शब्द कहा जाता है। तथा न तो उष्ण है, न तो शीत है, ऐसा एक अनुष्णाशीत स्पर्श गुण भी वायुमें उत्पन्न होता है, यह वायुका खास अपना गुण है।

वायुमें अग्नि उत्पन्न हुई, अतः उस अग्निमें भी आकाशका "भुक भुक्" शब्द और वायुका स्पर्श गुण आता है, और अपना अग्निका प्रकाश गुण उत्पन्न होता है।

अग्निसे जल उत्पन्न होनेसे जलमें भी आकाशका "चुल चुल" शब्द, वायुका शीत स्पर्श, अग्निका शुक्ल (सफेद) रूप तथा अपना मधुर रस उत्पन्न होते हैं।

जलसे पृथिवी उत्पन्न होनेके कारण पृथिवीमें आकाशका "कट कट" शब्द, वायुका उष्ण-शीतसेविलक्षण कठिन स्पर्श, अग्निके शुक्ल, पीत, नील, हरित, रक्त, कपिल ये छः रूप जलके मधुर (मीठा), तिक्त, आम्ल, लवण, कटु, कषाय, ये छः रस तथा पृथिवीके अपने सुगन्धि और दुर्गन्धि दो प्रकारके गंध उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार आकाशमें एक गुण, वायुमें दो गुण, अग्निमें तीन गुण, जलमें चार गुण और पृथिवीमें पांच गुण उत्पन्न होते हैं। उनमें एक एक गुण तो अपना है, और दूसरे गुण उनके साक्षात् तथा परम्परा कारणके हैं। किन्तु अपने कारणके द्वारा कार्यमें शुद्ध, शब्द, स्पर्श आदि गुण ही आते हैं,

और उनमें जो (सीसी) स्वरूप तथा उष्णता, शीतता आदि विशेषता हैं वे अपनी २ हैं।

सबका मूल कारण माया-विशिष्ट चेतन (ईश्वर) है। उसमें माया और चेतन दो भाग हैं। सब भूतोंमें जो मिथ्यापना है सो तो मायाका है और सब भूतोंमें सत्ता-स्फूर्ति चेतनका भाग है।

और ये पंचभूत न्यूनाधिक भागमें रहते हैं। जैसे-मायाके एक देशमें आकाश है, आकाशके एक देशमें वायु है, वायुके एक देशमें अग्नि है, अग्निके एक देशमें जल है तथा जलके एक देशमें पृथिवी है।

एक देशी मत

किसी मतमें इस प्रकार कहा गया है कि-जितने देशमें आकाश रहता है उसके दशवें भागमें पवन रहता है, और जितने भागमें वायु है उसके दशवें भागमें अग्नि रहती है, और जितने भागमें अग्नि है उसके दशवें भागमें जल रहता है, और जितने भागमें जल रहता है उसके दशवें भागमें पृथिवी रहती है।

सूक्ष्म सृष्टि

मायाके उक्त पांच सूक्ष्म भूतोंसे सूक्ष्म सृष्टि उत्पन्न होती है। उन पांच भूतोंमें सत्व, रज, तम, तीन प्रकारके गुण हैं। पांचों भूतोंके सम्मिलित (मिश्रित) सत्वगुणसे अन्तःकरण उत्पन्न

होता है क्योंकि अन्तःकरण ज्ञानका साधन है और ज्ञानकी उत्पत्ति सत्त्वगुणसे मानी गयी है।

अतः अन्तःकरण पञ्च भूतोंके सत्त्वगुणका कार्य और पांच भूतोंके कार्य जो पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं, उनका सहायक समझा जाता है।

अन्तःकरण

देहके अन्तः अर्थात् भीतर रहनेसे और करण अर्थात् ज्ञानका साधन होनेसे अन्तःकरण कहा जाता है।

भूतोंके सत्त्वगुणका कार्य होनेसे **अन्तःकरण सत्त्व** भी कहा जाता है।

वृत्ति

अन्तःकरणके परिणामको वृत्ति कहते हैं। यह वृत्ति चार प्रकारकी होती है, वृत्ति अन्तःकरणका एक प्रकारका भाव है।

बुद्धि

पदार्थके भले, बुरे स्वरूपका निश्चय करनेवाली अन्तःकरणकी वृत्तिको बुद्धि कहते हैं।

मन

संकल्प विकल्परूप वृत्तिको मन कहते हैं।

चित्त

चिन्तारूप वृत्तिको चित्त कहते हैं।

अहंकार

अहं अहं, इस रूपकी अभिमानाकार वृत्तिको अहंकार कहते हैं।

अन्तःकरण उत्पन्न होनेके बाद पांच भूतोंके सम्मिलित रजोगुण अंशसे प्राणकी उत्पत्ति होती है।

क्रियाके भेदसे तथा स्थानके भेदसे प्राण पांच प्रकारके होते हैं। जैसेः—

प्राण

१ जिसका रहनेका स्थान तो हृदय है और भूख, प्यास क्रिया है, उसे प्राण कहते हैं।

अपान

२ जिसका गुदा स्थान है और मल, मूत्रको नीचे उतारना क्रिया (काम) है, उसको अपान कहते हैं।

समान

३ जिसका नाभि स्थान है तथा खाये, पीये अन्न, जलके पचानेकी क्रिया है, उसको समान कहते हैं।

उदान

४ जिसका कंठ स्थान है और स्वास लेना क्रिया है, उसको उदान कहते हैं।

व्यान

५ जिसका संपूर्ण शरीर स्थान है और हल-मिलानेकी क्रिया है, उसको व्यान कहते हैं। अर्थात् व्यान सम्पूर्ण शरीरमें रहता है।

इस तरह प्राण, अपान, समान,उदान और व्यान ये पांच प्रकारके प्राणोंकी उत्पत्ति क्रमसे पांच भूतोंके सम्मिलित रजोगुणांश होती है।

कहीं कहीं नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनंजय ये पांच प्राण अधिक कहे गये हैं, और पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाशके पृथक् पृथक् रजोगुण अंशसे उनकी क्रमशः उत्पत्ति कही गयी है। और उसी प्रकार पृथिवी आदिके अलग २ रजोगुणसे प्राण, अपान, समान, उदान, व्यानकी उत्पत्ति लिखी है। परन्तु अद्वैत-मतमें यह प्रक्रिया नहीं है। श्रीविद्यारण्य स्वामीने तथा वार्तिककारने सूक्ष्म शरीरमें और पंचकोशोंमें नाग, कूर्म आदिका कहीं ग्रहण नहीं किया है।

और प्राणादिकी उत्पत्ति भी पंच भूतोंके सम्मिलित रजोगुणसे ही कही है। अलग २ भूतोंके रजोगुणसे नहीं कही है। सूक्ष्म शरीरमें प्राणादि पांचका ही ग्रहण किया है, नाग, कूर्मादिका ग्रहण नहीं किया है। और प्राण विक्षेपरूप है। वह विक्षेप स्वभाव रजोगुणका है इसलिये भूतोंके रजोगुणसे प्राणकी उत्पत्ति कहना युक्ति-युक्त है।

एक एक भूतके सत्त्व गुण अंशसे ज्ञान-इन्द्रियोंकी उत्पत्ति हुई है।

पंच ज्ञानेन्द्रियकी उत्पत्ति

१ आकाशके सत्त्वगुण अंशसे श्रोत्रेन्द्रियकी उत्पत्ति हुई है।
२ वायुके सत्त्वगुणसे त्वगिन्द्रियकी उत्पत्ति हुई है।
३ तेजके सत्त्वगुणसे नेत्र इन्द्रियकी उत्पत्ति हुई है।
४ जलके सत्त्वगुणसे रसना (जिह्वा) इन्द्रियकी उत्पत्ति हुई है।
५ पृथिवीके सत्त्वगुणसे घ्राण इन्द्रियकी उत्पत्ति हुई है।

ये पांच इन्द्रिय ज्ञानके साधन होनेसे ज्ञानेन्द्रिय नामसे प्रसिद्ध

है। ज्ञानकी उत्पत्ति सत्त्वगुणसे होती है इसलिये ज्ञानेन्द्रियकी भी उत्पत्ति सत्त्वगुणसे ही होती है।

श्रोत्र (कान) आकाशके शब्द गुणको ही ग्रहण करता है, इसलिये श्रोत्र इन्द्रियकी उत्पत्ति आकाशसे हुई समझी जाती है।

त्वचा वायुके स्पर्श गुणको ग्रहण करती है, इसलिये त्वचा-इन्द्रिय की उत्पत्ति वायुसे हुई समझी जाती है।

नेत्र (आंख) तेजके रूप गुणको ग्रहण करती है, इसलिये नेत्र-इन्द्रियकी उत्पत्ति तेजसे कही जाती है।

रसना (जीभ) जलके रसगुणको ग्रहण करती है इसलिये रसना-इन्द्रियकी उत्पत्ति जलसे हुई मानी जाती है।

घ्राण (नाक) पृथिवीके गंध गुणको ग्रहण करता है इसलिये घ्राण, इन्द्रियकी उत्पत्ति पृथिवीसे हुई मानी जाती है।

ये पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं अतः इनकी उत्पत्ति भूतोंके सत्त्वगुणसे ही संभव है।

पंच कर्मेन्द्रियकी उत्पत्ति

१ आकाशके रजोगुण अंशसे वाक् (मुख) इन्द्रियकी उत्पत्ति होती है।

२ वायुके रजोगुणसे पाणि (हाथ) इन्द्रियकी उत्पत्ति होती है।

३ तेजके रजोगुणसे पाद (पांव) इन्द्रियकी उत्पत्ति होती है।

४ जलके रजोगुणसे उपस्थ (योनि तथा लिंग) इन्द्रियकी होती है।

५ पृथिवीके रजोगुणसे गुदा-इन्द्रियकी उत्पत्ति होती है।

कर्मका अर्थ क्रिया है, ये पांच इन्द्रिय क्रियाके साधन होनेसे कर्म-इन्द्रिय हैं।

क्रिया (काम करना) रजोगुणका स्वभाव है इसलिये भूतोंके रजोगुणसे कर्म-इन्द्रियकी उत्पत्ति कही गयी है।

सूक्ष्म सृष्टि

चित्त, मन, बुद्धि, अहंकार, ये चार प्रकारके अन्तःकरण और प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, ये पांच प्रकारके प्राण श्रोत्र, त्वक्, (त्वचा) चक्षु, रसना, घ्राण, ये पांच ज्ञानेन्द्रिय मुख, हाथ, पांव, उपस्थ, गुदा ये पांच कर्मेन्द्रिय अपंचीकृत सूक्ष्म पंच भूत आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, ये पांच तन्मात्रायें, इनके समुदायको सूक्ष्म सृष्टि कहते हैं।

और इन्हींमेंसे १७ सतरह तत्त्वोंको सूक्ष्म शरीर कहते हैं, वे तत्त्व हैं ये - मन, बुद्धि, प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना, घ्राण, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ, गुदा। इन सतरह तत्त्वोंका सूक्ष्म (लिंग) शरीर होता है।

सूक्ष्म सृष्टि तथा सूक्ष्म शरीर इस लिये कहा जाता है कि इनका

नेत्र आदि बाह्य इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं होता है। अर्थात् जैसे-स्थूल घट, पट आदिका नेत्र आदिसे प्रत्यक्ष होता है वैसे सूक्ष्म सृष्टि अथवा सूक्ष्म शरीरका नेत्र आदि बाह्य इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं होता है इसीलिये ये सूक्ष्म कहलाते हैं।

इस प्रकार सूक्ष्म सृष्टिकी उत्पत्तिके बाद स्थूल सृष्टिके लिये ईश्वरकी इच्छासे भूतोंका पंचीकरण होता है क्योंकि पञ्चीकरण होनेसे ही स्थूल सृष्टि होती है। वह पंचीकरण इस प्रकार है:—

पञ्चीकरण-प्रक्रिया

आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथिवी, इन पांच भूतोंमेंसे प्रत्येक भूतके दो समान भाग हो जाते हैं। उन दो भागोंके एक एक भागमेंसे पुनः चार चार भाग हो जाते हैं। और उन पांच भूतोंके वे चतुर्थांश चतुर्थांश चार भाग अपने २ से भिन्न चार भूतोंके दूसरे आधे आधे भागमें मिला दिये जाते हैं।

इस प्रकार हर एक भूतोंका आधा भाग (आठ आना भाग) तो अपना रहता है, और आधेके चतुर्थांश भाग (दो दो आना भाग) दूसरे चार भूतोंके रहते हैं, इसीको पंचीकरण कहते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक भूत पञ्च भूतसे मिश्रित होनेके कारण पञ्चात्मक हो जाते हैं।

जैसे—आकाशके दो समान भाग किये जाते हैं, उनमेंसे आधा एक भाग तो आकाशका अलग रहता है, और दूसरे एक भागमेंसे चार भाग होकर आकाशमें भिन्न वायु, तेज, जल तथा पृथिवी इन

चारोंमें एक एक भाग मिला दिये जाते हैं। इसी प्रकारसे उन चारों भूतोंके भी आधे २ भागके एक एक चतुर्थांश भाग आकाशमें मिल जाते हैं।

इसी प्रकार अन्य चार भूतोंके भी अपना अपना आधा भाग और अपनेसे भिन्न चार भूतोंके चतुर्थांश-चतुर्थांश भागका मिश्रण होता है। इस प्रक्रियासे एक एक भूत पंचीकृत (पञ्चात्मक) होता है।

(लौकिक दृष्टान्त) जैसे—कोई पांच आदमी किसी एक मेवा-फरोसकी दुकानपर गये। वहां जाकर उनमेंसे एकने एक सेर बादाम, दूसरेने एक सेर किसमिस, तीसरेने एक सेर छुहारे, चौथेने एक सेर अखरोट और पांचवेंने एक सेर अंगूर खरीदे। बादमें चारों एक स्थानपर जाकर विचारने लगे कि अपनी २ चीजको अकेले खाना ठीक नहीं है। तब उन्होंने अपने अपने मेवेमेंसे आध आध सेर तो अपने २ पास रख लिया और शेष आध २ सेरमेंसे दो दो छटांक अपने अन्य चार मित्रोंको बांट दिया। ऐसा करनेसे आध २ सेर मेवा तो अपना रहता है और दो दो छटांक दूसरे चार मित्रोंसे मिलनेके कारण आध आध सेर मेवा दूसरोंसे सबको मिल जाता है। मिलाकर पांचोंके पास फिर एक एक सेर मेवा (पंचमेवा) हो जाते हैं और उन्हें खाकर वे आनन्द मनाने लगतेहैं। इसी तरह भूतोंके पंचीकरणकी भी प्रक्रिया है।

किसीके मनमें यह कहा जाना है कि इस प्रक्रियामें तो हर एक भूतमें आधा २ हिस्सा अपना तथा आधा २ हिस्सा दूसरे चार भूतोंके होनेसे सबका अपना आधा हिस्सा दब जाता है और इस प्रकार अपना खास हिस्सा दब जानेपर आकाश आदि भूतोंका

अलग २ ज्ञान नहीं हो सकता है, अतः उक्त पंचीकरणकी प्रक्रिया ठीक नहीं है किन्तु पञ्चीकरणकी अलग प्रक्रिया है।

पञ्चीकरणकी दूसरी प्रक्रिया

पंच भूतोंमेंसे प्रत्येक भूतके पचीस पचीस भाग किये जाते हैं, उनमेंसे इक्कीस २ भाग तो सबके अलग २ रख दिये जाते हैं अवशिष्ट (बचे) चार २ भागोंमेंसे एक २ भाग अपनेसे भिन्न चार भूतोंके इक्कीस २ भागोंमें मिल जाते हैं इस प्रकार पुनः सबके पास इक्कीस २ भाग अपने २ और एक २ भाग अन्य चारोंके होते हैं सब मिलकर पचीस २ भाग हो जाते हैं। इस प्रकार भूतोंका पञ्चीकरण होता है।

इसमें इक्कीस भाग निजके तथा केवल चारही भाग दूसरे भूतोंके होनेसे निजका भाग तिरोहित नहीं होता है अतः आकाश आदि भूतोंके अलग २ ज्ञान स्पष्ट होता है।

एक २ भूत पञ्चात्मक होनेसे पञ्चीकरण कहा जाता है। अर्थात् इस प्रकार पंचीकृत स्थूल भूतोंसे ही स्थूल सृष्टि उत्पन्न होती है इन पंचीकृत भूतोंसे इन्द्रियोंका विषय अर्थात् स्थूल समस्त ब्रह्मांड उत्पन्न होता है उस ब्रह्मांडके ऊपरके आधे हिस्सेमें **भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्गलोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक,** ये सात लोक हैं। और नीचेके आधे हिस्सेमें **अतल, सुतल, पाताल, वितल, रसातल, तलातल, महातल,** ये सात लोक हैं। पश्चात् इन चौदहों लोकोंमें जीवोंके उपभोगके योग्य अन्न, आदि सामग्री तथा भोगके साधन स्थूलशरीर उत्पन्न

होते हैं। जो शरीर देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदिके भेदसे अनेक प्रकारके हैं।

उन पंच महाभूतोंके पचीस तत्त्वोंको स्थूलशरीरमें दिखाते हैं। जैसे—

आकाशमें एक बड़ा हिस्सा निजका तथा चार छोटे हिस्से अन्य चार महाभूतोंके मिलनेसे पांच तत्त्व एक आकाशमें हो जाते हैं इसी प्रकार दूसरे चार भूतोंमें भी एक एक मुख्य हिस्सा निजका तथा चार हिस्से दूसरोंके मिलनेसे एक एक भूतमें पांच २ हिस्से (तत्त्व) हो जाते हैं। बादमें पञ्च तत्त्वात्मक प्रत्येक भूतके परस्पर मिलनेसे २५ तत्त्व होते हैं। अथवा पञ्चीकृत पंचभूतोंके सब मिलाकर पचीस तत्त्व होते हैं। ये २५ तत्त्व शरीरमें इस प्रकार मालूम पड़ते हैं:—

आकाशके पांच तत्त्व

शोक, काम, क्रोध, मोह, भय।

(१) **शोक**—पञ्चीकृत आकाशमें जो मुख्य भाग आकाशका अपना था उसका परिणाम है। क्योंकि शोकके समय शून्य सा हो जाता है और आकाश भी शून्य है।

(२) **काम**—आकाशमें मिले हुए वायुके भागका है, क्योंकि काम भी चंचल है और वायु भी चल स्वभाव है।

(३) **क्रोध**—आकाशमें मिले हुए तेजके भागका परिणाम है, क्योंकि क्रोधके समय देह गर्म हो जाती है और तेज भी गर्म है।

(४) मोह—आकाशमें मिले हुए जलके भागका है, क्योंकि न, मनमें मोह फैलता है और जल भी फैलता है।

(५) भय—आकाशमें मिले हुए पृथिवीके भागका है, क्योंकि भयके समय शरीर जड़सा हो जाता है और पृथिवी भी जड़ है।

वायुके पाँच तत्त्व

प्रसारण, धावन, वलन, चलन, आकुंचन

(६) प्रसारण—वायुमें मिले हुए आकाशके भागका परिणाम है, क्योंकि प्रसारणका अर्थ फैलाना है और आकाश भी फैला हुआ है।

(७) धावन—वायुके मुख्य भागका परिणाम है क्योंकि धावनका अर्थ दौड़ना है और वायु भी दौड़ती फिरती है।

(८) वलन—वायुमें मिले हुए तेजके भागका परिणाम है क्योंकि वलनका अर्थ जलना है और तेज भी जलता है।

(९) चलन—वायुमें मिले हुए जलके भागका है, क्योंकि चलनका अर्थ चलना है और जल भी चलता है।

(१०) आकुंचन—वायुमें मिले हुए पृथिवीके भागका परिणाम है, क्योंकि आकुंचनका अर्थ संकोच है और पृथिवी भी सिकुड़ी हुई है।

तेजके पाँच तत्त्व

निद्रा, तृषा, क्षुधा, कांति, आलस्य

क्षुधा (भूख) तो तेजका मुख्य भाग है और दूसरे चार अन्य भूतोंके गौण भाग हैं।

(११) **निद्रा**—तेजमें मिले हुए आकाशके भागका परिणाम है, क्योंकि निद्रामें शरीर शून्य हो जाता है और आकाश भी शून्य है

(१२)**तृषा**—तेजमें मिले हुए वायुके भागका परिणाम है, क्योंकि तृषा (प्यास) कण्ठको सुखाती है और वायु भी गीली जमीन आदिको सुखा देती है।

(१३) **क्षुधा**—तेजके मुख्य भागका परिणाम है, क्योंकि क्षुधा (भूख) खाये पदार्थको भस्म कर देती है, और आग भी सब वस्तुओंको भस्म कर देती है।

(१४) **कांति**—तेजमें मिले हुए जलके भागका परिणाम है, क्योंकि कांति धूपमें घट जाती है, और जल भी धूपमें सुखकर कम हो जाता है।

(१५) **आलस्य**—तेजमें मिले हुए पृथिवीके भागका परिणाम है, क्योंकि आलस्यसे शरीर जड़ हो जाता है और पृथिवी भी जड़ है

जलके पांच तत्त्व

लाला, स्वेद, मूत्र, शुक्र, शोणित

इनमें भी शुक्र तो जलका मुख्य भाग है और अन्य चार भूतोंके गौण भाग हैं।

(१६) **लाला**—जलमें मिले हुए आकाशके भागका परिणाम है, क्योंकि लाला (मुखकी लार) ऊंची नीची होती है और आकाश भी ऊंचा नीचा है।

(१७) **स्वेद**—जलमें मिले हुए वायुके भागका परिणाम है क्योंकि स्वेद (पसीना) परिश्रम करनेसे होता है और वायु भी श्रमसे पंखा चलानेपर आती है।

(१८) **मूत्र**—जलमें मिले हुए तेजके भागका परिणाम है क्योंकि मूत्र भी गर्म होता है और तेज भी गर्म है।

(१९) **शुक्र**—जलके मुख्य भागका परिणाम है, क्योंकि शुक्र (वीर्य) सफेद होता है और सन्तानको उत्पन्न करता है उसी प्रकार जल भी सफेद होता है और वृक्ष आदिको उत्पन्न करता है।

(२०) **शोणित**—जलमें मिले हुए पृथिवीके भागका विकार है; क्योंकि शोणित (रुधिर) लाल होता है और बहुतसी जमीन भी लाल रंगकी होती है।

पृथिवीके पांच तत्त्व

रोम, त्वचा, नाड़ी, मांस, अस्थि

इनमें भी अस्थि तो पृथिवीका मुख्य भाग है और अन्य चार दूसरे चार भूतोंके गौण भाग हैं।

(२१) **रोम**—पृथिवीमें मिले हुए आकाशके भागका परिणाम है, क्योंकि रोएंको काटनेमें पीड़ा नहीं होती है इसलिये रोम शून्य है और आकाश भी शून्य है।

(२२) **त्वचा**—पृथिवीमें मिले हुए वायुके भागका विकार है, क्योंकि त्वचामें स्पर्श मालूम होता है और वायु भी स्पर्शवान् है।

(२३) **नाड़ी**—पृथिवीमें मिले हुए तेजके भागका परिणाम है क्योंकि नाड़ीसे बुखारकी गर्मीका पता लगता है और तेज भी गर्म है।

(२४) **मांस**—पृथिवीमें मिले हुए जलके भागका विकार है, क्योंकि मांस गीला होता है और जल भी गीला है।

(२५) **अस्थि**—पृथिवीके मुख्य भागका है, क्योंकि अस्थि (हड्डी) कठोर है और पृथिवी भी कठोर है।

साक्षात् अथवा परंपरासे ये पचीस तत्त्व स्थूल शरीरमें रहते हैं। क्योंकि काम, क्रोधादि धर्म साक्षात् (मुख्य रीतिसे) तो सूक्ष्म शरीरके हैं किन्तु परम्परासे स्थूल शरीरके भी धर्म कहे जाते हैं। और प्रसारण आदि कई एक धर्म साक्षात् स्थूल शरीरके हैं।

इस प्रकार पंचीकृत पंचभूतों द्वारा निर्मित स्थूल शरीरमें स्थित पचीस तत्त्वोंका वर्णन किया गया है।

माया-उपहित चेतनसे (ईश्वरसे) सूक्ष्म तथा स्थूल सृष्टिकी उत्पत्ति वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार दिखाई जा चुकी है, अब ईश्वर तथा जीवोंके **कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर** एवं **अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश आनन्दमयकोश** का निरूपण करते हैं। ये सब माया-के कार्य हैं।

कारण शरीर

१—शुद्ध सत्त्वगुण-युक्त माया ईश्वरका कारणशरीर है और

मलिन सत्त्वगुण-सहित तथा वासनामय अनादि अविद्या-अंश जीवके कारणशरीर है।

सूक्ष्म शरीर

२—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान ये पांच प्राण तथा श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण ये पांच ज्ञान-इन्द्रिय और वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ (शिश्नेन्द्रिय) ये पंच कर्म-इन्द्रिय और मन, (चित्त) बुद्धि, (अहंकार) इन सत्रह तत्त्वोंके समुदायको जीवका सूक्ष्मशरीर कहते हैं।

और समस्त जीवोंके सूक्ष्म शरीर मिलकर ईश्वरका सूक्ष्म शरीर कहा जाता है।

स्थूलशरीर

३—जीवोंका स्थूल शरीर तो व्यष्टिरूपसे (एक, एक) प्रत्यक्ष ही है। और समस्त स्थूल ब्रह्माण्ड ईश्वरका स्थूल शरीर है। इन्हीं शरीरोंमें पांच कोश अन्तर्गत हैं।

आनन्दमयकोश

१—कारण शरीरको आनन्दमयकोश कहते हैं।

२—४ विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय ये तीन कोश सूक्ष्म शरीरमें रहते हैं।

विज्ञानमयकोश

पांच ज्ञानेन्द्रिय और निश्चयरूप अन्तः करणकी वृत्ति, जो बुद्धि है इन छः के समुदायको विज्ञानमयकोश कहते हैं।

मनोमयकोश

पांच ज्ञानेन्द्रिय और संकल्प-विकल्पात्मक अन्तःकरणकी वृत्ति, जो मन है इन छः के समुदायको मनोमयकोश कहते हैं।

प्राणमयकोश

पांच प्राण तथा पांच कर्मेन्द्रियोंके समुदायको प्राणमयकोश कहते हैं।

अन्नमयकोश

५—स्थूल शरीरको अन्नमयकोश कहते हैं।

इस प्रकार उक्त तीन शरीरोंमें पांच कोश अन्तर्गत हो जाते हैं। शरीर और कोश एक ही वस्तु है।

कोशका अर्थ म्यानहै। जिस प्रकार तलवार म्यानमें रहती है अर्थात् म्यान तलवारको ढांकता है, उसी प्रकार कोश आत्माको ढांकनेवाला है।

अथवा कोशका अर्थ भण्डार (खजाना) है, जैसे—खजानेमें धन रहता है, अर्थात् खजाना धनको ढांकता है इसी प्रकार कोश सत्, चित् आनन्द स्वरूप आत्माको आच्छादित कर लेता है अर्थात् उसके वास्तविक स्वरूपपर आवरण कर देता है।

तीनों शरीर मायाके कार्य हैं इसलिये पांचकोश भी मायाके कार्य हैं।

आत्मा जैसे पचीस तत्त्वोंसे भिन्न है वैसे ही तीन शरीर तथा पांच कोशोंसे भी भिन्न है। वह घट, पटके द्रष्टाकी तरह इनसे

पृथक् होकर इनका द्रष्टामात्र है। स्थूल शरीरके भीतर सूक्ष्म शरीर है और इन दोनों शरीरका कारण कारण शरीर है।

इसी प्रकार पांचकोशोंमें भी क्रमसे एकसे एक सूक्ष्म है। इस कारण अन्नमयकोशके अन्दर प्राणमय, प्राणमय कोशके अन्दर मनोमय, मनोमयकोशके भीतर विज्ञानमय और विज्ञानमयके भीतर आनन्दमय कोश है।

ये कोश व्यष्टिरूपसे जीवके कोश कहे जाते हैं और समष्टिरूपसे ईश्वरके कोश कहे जाते हैं। जैसे-व्यष्टि रूपसे प्रत्येक पेड़को वृक्ष कहते हैं, तथा समष्टिरूपसे पेड़ोंके समुदायको वन कहते हैं।

उसी प्रकार प्रत्येक जीवका प्रत्येक शरीर तथा प्रत्येक कोश व्यष्टि शरीर तथा व्यष्टि कोश कहा जाता है और समष्टिरूपसे सब जीवोंके मिलकर सब शरीर तथा सब कोश ईश्वरका समष्टि शरीर तथा समष्टि कोश कहा जाता है।

अब व्यष्टि कारण शरीर आदिके अभिमानी चेतनके (जीवके) नाम तथा स्थान आदिका निरूपण करते हैं और समष्टिकारण शरीर आदिसे युक्त ईश्वरके भी नाम स्थान आदिका निरूपण करते हैं।

प्राज्ञ

सुषुप्तिमें व्यष्टि कारण शरीर आदिके अभिमानी अनादि वासनामय अविद्या-विशिष्ट चेतनको (जीवको) प्राज्ञ कहते हैं। यह प्राज्ञ जीव सुषुप्ति (गाढ़निद्रा) कालमें रहता है। प्राज्ञ जीवको सुषुप्तिमें

सुखका तथा अज्ञानका अनुभव रहता है। और उस अनुभवसे उत्पन्न एक प्रकारका संस्कार वासनामय अविद्यामें रह जाता है। जब आत्माका अन्तःकरण, प्राण, तथा इन्द्रिय सुषुप्तिके समय वासनामयअविद्यामें लीन हो जाती हैं तब इस जीवात्माका कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि निवृत्त हो जाते हैं और उसको अपने स्वरूपके सुखका अनुभव होता है। उस सुखको सुखाकारवृत्ति **प्रिय, मोद, प्रमोद** भेदसे तीन प्रकारकी होती है। इनमेंसे प्रियरूप सुखाकार वृत्ति उसको कहते हैं जो इष्ट वस्तुके (आत्मस्वरूपके) देखनेसे उत्पन्न होती है। मोद रूप सुखाकार वृत्ति उसको कहते हैं जो इष्ट वस्तुकी प्राप्तिसे उत्पन्न होती है, और जो वृत्ति इष्ट वस्तुके उपभोगसे उत्पन्न होती है उसको प्रमोदरूप सुखाकारवृत्ति कहते हैं। इन सुखाकारवृत्तिका तैत्तिरीय उपनिषद्में भी वर्णन है।

इसप्रकारसे प्राज्ञ नामके जीवको सामान्यरूपसे अपने आनंदमय स्वरूपका अनुभव होनेपर भी विशेषरूपसे उसका अनुभव नहीं रहता है, क्योंकि उस समय उसमें अविद्या वर्तमान ही रहती है। उस समय सुखका तथा अज्ञानका भी अनुभव होता है। क्योंकि जब पुरुष सोकर उठता है तब उसको यह स्मरण होता है कि "आज मैं ऐसे सुखसे सोया कि किसी वस्तुका ज्ञानही न रहा" यही स्मरण सुषुप्तिकालके सुखके अनुभवका तथा अज्ञानके अनुभवका अनुमान कराता है, अर्थात् इसप्रकारके स्मरणरूपहेतुसे सुषुप्तिकालके अनुभवका अनुमान होता है क्योंकि विना अनुभवके स्मरण कदापि

नहीं होता है। अतः यह सिद्ध है कि सुषुप्तिमें भी अज्ञान तथा सुख-का अनुभव रहता है।

ईश्वर

इस प्रकार अनुभव-कर्ता प्राज्ञ-जीव ब्रह्माण्डमें असंख्य हैं। उन अनन्त प्राज्ञजीवोंके समष्टि कारणशरीर-सहित तथा अज्ञान-उपहित चेतनको ईश्वर कहते हैं।

माण्डूक्य उपनिषद्‌में प्राज्ञ तथा ईश्वरके अभेदकी उपासनासे उपासकको ईश्वरकी प्राप्ति कही गयी है।

सुषुप्तिकालमें प्राज्ञका स्थान हृदय रहता है। उस समय सब इन्द्रिय, बुद्धि तथा मन अपने कारण अविद्यामें लीन हो जाते हैं और केवल सुखविषयक अविद्याकी वृत्तिमात्र शेष रहती है।

प्राज्ञकी पश्यन्ती वाणी होती है। आनंद, भोग होता है। द्रव्य, शक्ति होती है। तमोगुण होता है। और सुषुप्तिका अभिमानी होनेसे प्राज्ञ नाम होता है।

इस प्रकार प्राज्ञ तथा ईश्वरका निरूपण करके अब तैजस तथा हिरण्यगर्भ (सूत्रात्मा) का निरूपण करते हैं।

तैजस

स्वप्नमें प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोशरूपव्यष्टि सूक्ष्म शरीरके अभिमानी जीव चेतनको तैजस कहते हैं।

हिरण्य गर्भ

तैजस जीवोंके अनन्त समष्टि सूक्ष्म शरीर-सहित अज्ञान-
[illegible] हिरण्यगर्भ कहते हैं। मांडूक्य उपनिषद् में तैजस

तथा हिरण्यगर्भकी उपासनासे उपासकको हिरण्यगर्भकी प्राप्ति कही गयी है।

तैजस जीवका स्थान कण्ठ है। मध्यमा वाणी है। सूक्ष्म उपभोग है। ज्ञान शक्ति है। सत्त्व गुण है। स्वप्नवस्थाका अभिमान होनेसे तैजस नाम है।

जाग्रत् अवस्थामें जो पदार्थ देखे, सुने या भोगे जाते हैं उनका संस्कार बालके अग्रभागके हजारवें भागजैसी बारीक कण्ठमेंस्थित हिता नामकी नाड़ीमें रहता है, इसलिये अनुभूत पदार्थ और उनका ज्ञान स्वप्न अवस्थामें पैदा होते हैं,।

इस प्रकार समष्टि सूक्ष्म शरीर-सहित चेतनको हिरण्यगर्भ तथा व्यष्टि सूक्ष्म शरीर-सहित चेतनको तैजस कहकर अब प्रसंगवशात् उस सूक्ष्म शरीरके विषयका तथा देवताका निरूपण कहते हैं।

स्वप्न या घोर निद्रारूप सुषुप्ति जिस समय न हो, तथा इन्द्रिय, अंतःकरण, और उनके देवता तथा उनके विषयोंका स्पष्ट व्यवहार जिस समयमें होता हो उसको जाग्रत अवस्था कहते हैं।

अब दश इन्द्रियोंके तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारके देवता और विषयोंका निरूपण करते हैं। यथाः—

१—श्रोत्र इन्द्रियका देवता दिशा है और शब्द विषय है।
२—त्वचा इन्द्रियका देवता वायु हैं और विषय स्पर्श है।
३—नेत्र इन्द्रियका देवता सूर्य हैं और विषय रूप है।
४—रसना (जिह्वा)इन्द्रियका देवता वरुण हैं और विषय रस है।

५ घ्राण इन्द्रियका देवता अश्विनीकुमार हैं और विषय गंध है।

६ वाक् इन्द्रियका देवता अग्नि हैं, और क्रिया बोलना है।

७—हस्त इन्द्रियका देवता इन्द्र हैं,और उसकी क्रिया लेन-देन है।

८ पाद (पांव) इन्द्रियका देवता वामन हैं, और उसकी क्रिया गमन है।

९ उपस्थ इन्द्रियका देवता प्रजापति हैं, और आनन्द (रतिभोग) उसकी क्रिया है।

१० गुदा इन्द्रियका देवता यम हैं, और मल-त्याग उसकी क्रिया है।

११ मनका देवता चन्द्रमा हैं, और संकल्प-विकल्प करना उसकी क्रिया (काम) है।

१२ बुद्धिका देवता ब्रह्मा हैं और निश्चय करना उसकी क्रिया है।

१३ चित्तका देवता वासुदेव हैं, और चिन्तन करना उसकी क्रिया है।

१४ अहंकारका देवता रुद्र हैं और अभिमान करना उसकी क्रिया है।

इन्द्रिय, देवता, विषय इन तीनोंको मिलाकर त्रिपुटी कहते हैं। इन तीनोंमेंसे एकके भी न रहनेसे व्यवहार नहीं चल सकता है। जैसे—नेत्र तथा सूर्यके प्रकाश रहनेपर भी यदि कोई घट, पट आदि रूपवान् विषय न हो तो नेत्र तथा सूर्यका कुछ भी उपयोग नहीं हो सकता है,। इसी तरह नेत्र तथा रूपवान् विषय रहनेपर भी यदि सूर्यका प्रकाश न हो तो केवल नेत्र तथा वस्तुसे व्यवहार नहीं चलता

है, अर्थात् अन्धकारमें नेत्र वस्तुको नहीं देख सकती है। और इसी तरह सूर्यके प्रकाश तथा वस्तुके रहनेपर भी यदि नेत्र नहीं रहे तो केवल प्रकाश तथा रूपवान् वस्तुसे भी व्यवहार नहीं चल सकता है, अर्थात् अन्धा आदमी सूर्यकी रोशनीमें भी किसी वस्तुको नहीं देख सकता है। इस प्रकार सभी (१४) त्रिपुटियोंमें समझना चाहिये। व्यवहार निर्वाहके लिये एक समयमें तीनोंका रहना जरूरी है।

इस प्रकार स्वप्न सुषुप्ति तथा चौदह त्रिपुटियोंका वर्णन करके अब व्यष्टि स्थूल शरीर-सहित चेतनका (विराटका) निरूपण करनेके लिये प्रथम स्थूल शरीरका निरूपण करते हैं।

मांसमय भौतिक कर, चरण आदि अवयव-युक्त नाशवान् शरीरको स्थूल शरीर कहते हैं।

इस स्थूल शरीरको अन्नमय कोश भी कहते हैं क्योंकि यह अन्नसे उत्पन्न होता है। स्त्री और पुरुष जिस अन्नको खाते हैं, उससे उन दोनोंके शरीरमें रस पैदा होता है, रससे रुधिर, रुधिरसे मांस, मांससे चर्बी, चर्बीसे नाड़ियां, नाड़ियोंसे हड्डी, हड्डीसे मज्जा (हड्डीके भीतरका गुदा), मज्जासे स्त्रीके शरीरमें तो रज और पुरुषके शरीरमें वीर्य उत्पन्न होता है।

जीवोंके कर्मके अनुसार संतान उत्पन्न करनेकी जब ईश्वरकी इच्छा होती है तब ऋतुकालमें स्त्री, पुरुषके संयोगसे स्त्रीके गर्भ-स्थानमें रज-वीर्यका संयोग होता है। वह संयुक्त रज-वीर्य एक दिनके होनेपर कलल कहा जाता है। सात दिनोंमें वह रज-वीर्य बुल-बुलेके आकारका हो जाता है। पन्द्रह दिनके बाद एक छोटेसे पिण्ड-

के आकारका हो जाता है। एक महीनेमें उस पिण्डमें कठिनता आ जाती है। दो महीनेमें उसमें सिरका चिन्ह निकल आता है। तीसरे महीनेमें पांव, हाथ बन जाते हैं। चौथे महीनेमें पांवके गट्टे, पेट तथा कमर बन जाती हैं। पांचवे महीनेमें पीठ बन जाती हैं। छठे मासमें मुंह, कान, नाक तथा आंख आदि बन जाती हैं।

सातवें महीनेमें जीवके कर्मानुसार इस स्थूल शरीरमें सूक्ष्म शरीरका तथा चेतनका प्रवेश हो जाता है।

आठवें महीनेमें वह जीव नख, रोम आदि समस्त लक्षणोंसे युक्त हो जाता है। पिताका वीर्य प्रबल होनेसे पुत्र उत्पन्न होता है और स्त्रीका रज अधिक प्रबल होनेसे पुत्री उत्पन्न होती है। दोनोंका रज, वीर्य समान हो तो नपुंसक उत्पन्न हो जाता है। इसके बाद नवें महीनेमें उस गर्भस्थ जीवमें ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, और उसको पूर्व जन्मोंका तथा भले, बुरे कर्मोंका स्मरण होने लगता है और वह दुःखी होकर गर्भसे मुक्त होनेके लिये परमात्मासे प्रार्थना करता है तथा प्रतिज्ञा करता है कि—यदि इस बार गर्भसे मुक्त हो जाऊं, तो आपकी भक्ति, धर्म-कर्म तथा ज्ञान प्राप्त करूंगा, और अब संसारके माया-मोहमें न फसूंगा।

परन्तु बादमें जब वह जीव प्रसूती-वायुसे प्रेरित होकर गर्भसे बाहर आता है और संसारकी हवा उसे लगती है तब सब प्रतिज्ञाओं-को भूल जाता है और प्रपंचमय जगतमें फंस जाता है। इस प्रकार स्थूल शरीर अन्नका विकार प्रमाणित होता है अतः अन्नमय कोश .. जाता है। इस प्रकार व्यष्टि स्थूल शरीरकी उत्पत्ति होती है।

यह स्थूल शरीर भी चार प्रकारके होते हैं—**जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज** ।

जरायुज

१ माताके पेटमें गर्भको ढकनेवाली झिल्लीका नाम जरायु है, उस जरायुमें उत्पन्न होनेवाले शरीरको जरायुज कहते हैं। जैसे—गाय, भैंस, घोड़ा, बकरी, मृग,मनुष्य आदि जरायुज हैं।

अण्डज

२ अण्डसे उत्पन्न होने वाले शरीरको अण्डज कहते हैं। जैसे—पक्षी, मछली, सर्प, छिपकली अण्डज हैं।

स्वेदज

३ पसीना या मलसे उत्पन्न होनेवाले शरीरको स्वेदज कहते हैं। जैसे—जूं, खटमल, मच्छर, कोड़े, मकोड़े आदि स्वेदज हैं।

उद्भिज्ज

४ जमीनको फाड़कर अपने आप बीजसे उत्पन्न होनेवाले शरीरको उद्भिज्ज कहते हैं।
जैसे—वृक्ष, लता आदि उद्भिज्ज हैं।
वृक्ष आदि भी जीवात्माके शरीर हैं क्योंकि इनमें भी जीव है। इस रीतिसे स्थूल शरीर चार प्रकारके हैं।

विश्व

प्रत्येक जीवके अलग अलग स्थूल शरीरको तो व्यष्टि स्थूल-

शरीर कहते हैं, और उस व्यष्टि स्थूलशरीरसे उपहित चेतन **विश्व** कहते हैं।

विराट्

स्थूल व्यष्टिशरीरोंके समुदायको समष्टि स्थूलशरीर कहते और उस समष्टि स्थूल शरीर-उपहित चेतनको विराट् कहते हैं विराट्को ही वैश्वानर भी कहते हैं। अनेक प्रकारसे प्रकाशमान होने विराट् है और विश्वका (समस्त नरोंका) अभिमानी होनेसे वैश्वा नर है।

अब जाग्रत् अवस्थाके उस विश्वके स्थान आदिका निरूप करते हैं।

विश्वका नेत्र स्थान है। वैखरी वाचा है। स्थूल भोग है। क्रिय शक्ति है। रजोगुण है। तथा जाग्रतका अभिमानी होनेसे विश्व नाम है। जाग्रत् अवस्था स्पष्ट ही है।

गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, जाति-व्यक्ति तथा समष्टि-व्यष्टि का अभेद होनेके कारण विश्व और विराट् अभिन्न ही हैं। माण्डूक्य उपनिषद्में भी अभेदरूपसे उपासना करनेके लिए विश्व तथा वैश्वा-नरके अभेद रूपका प्रतिपादन किया गया है। और इस अभिन्नोपा-सनासे उपासकको वैश्वानर (विराट्) की प्राप्ति होती है इसलिये प्रथम अधिकारी पुरुष उपनिषद्के वाक्योंके अनुसार **विश्व वैश्वानर तैजस,सूत्रात्मा,प्राज्ञ,ईश्वर** इन सबके स्वरूपको जाने। पश्चात् मैं ही वैश्वानर हूं,इस प्रकार त्रिश्वका वैश्वानर रूपसे चिन्तन करे।

इसके बाद मैं ही सूत्रात्मा हूं, इस प्रकारसे तैजसका सूत्रात्मा-

रूपसे चिन्तन करे। इसके बाद 'मैं ईश्वर हूं', इस प्रकारसे प्राज्ञको ईश्वररूपसे समझे।

इसके बाद, समष्टि-व्यष्टिरूप स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीररूप उपाधि वान् जो परब्रह्म है वही मैं हूं, इस प्रकारसे आत्माका सर्वात्म-रूपसे चिन्तन करे।

इसके बाद एकाग्रमनसे 'मैं अखण्ड, एकरस, ब्रह्मानन्दस्वरूप हूं, इस तरह अपने आत्माका साक्षात्कार करे, इस प्रकार समष्टि व्यष्टिका तादात्म्य (अभेद) हो जाता है।

एकादश रत्न समाप्त

द्वादश रत्न

तत्त्वमसि आदि महावाक्योंमें जीव-ब्रह्मकी एकताका प्रतिपादन भागत्याग लक्षणाके द्वारा ही कहा गया है।

पदकी शक्ति (वृत्ति) के विचार करनेसे ही लक्षणाका विचार हो सकता है क्योंकि लक्षणा भी शक्तिके अन्तर्गत ही है।

और शक्तिका विचार भी शाब्द-बोधके विना नहीं हो सकता है अतः शाब्द-बोध (शाब्दी प्रमा)का विचार करते हैं

शाब्दी प्रमा

वाक्यकरणिका प्रमा शाब्दी प्रमा अर्थात् वाक्यरूप करण से होनेवाली प्रमाको शाब्दी प्रमा कहते हैं।

जैसे 'घटमानय' 'गांनय' इत्यादि वाक्योंको सुनकर

सुननेवाले मनुष्यको घड़ेको ले आनेकी तथा गायको ले जानेकी जो प्रमा (ज्ञान) होती है उसको शाब्दी प्रमा कहते हैं। वैसे ही **'तत्त्वमसि'** इस श्रुति वाक्यको सुनकर अधिकारी पुरुषको भी **'अहं ब्रह्मास्मि'** (मैं ब्रह्म हूं) इस प्रकारकी प्रमा होती है। यही शाब्दी प्रमा है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि अनेक वर्णोंके (अक्षरोंके) समूहको पद कहते हैं यथा 'कलश' यह पद क, ल, श इन तीन वर्णोंका समूहरूप है।

उसी प्रकार पदोंके समुदायको वाक्य कहते हैं। जैसे **'कलशमानय'** इस वाक्यमें कलश और आनय दो पद हैं। प्रत्येक वाक्यमें एक क्रियापद अवश्य रहता है। और कई एक छोटे छोटे वाक्योंके मिलानेसे एक महा वाक्य बनता है। तात्पर्य यह कि-वर्णोंसे पद, पदोंसे वाक्य और वाक्योंसे महावाक्य बनते हैं। महा वाक्य उसको कहते हैं जिसमें अनेक क्रिया पद हों।

और **'तत्त्वमसि'** आदि जीव, ब्रह्मके अभेद-बोधक वाक्य भी महावाक्य कहे जाते हैं। अमुक पदसे अमुक अर्थको जानना चाहिये, इसप्र कार ईश्वर की इच्छारूप संकेत प्रत्येक पदमें रहता है। वही पदकी शक्ति है। इसीलिये घटपदसे शंखके समान गर्दन वाली तथा स्थूलपेंदावली वस्तुका ज्ञान होता है। उसीको घड़ा कहते हैं। अथवा 'पदपदार्थयोर्वाच्यवाचकभावसम्बन्धः

शक्ति

शक्तिः अर्थात्—पद-पदार्थ इन दोनोंका जो वाच्य-वाचकभावरूप सम्बन्ध है, उसको शक्ति कहते हैं।

जैसे-घटपद और घड़ेरूप अर्थ दोनोंका वाच्य-वाचकभावरूप सम्बन्ध है, इनमें घटपद वाचक है और घटरूप अर्थ (वस्तु) घट पदका वाच्य है। पदसे जिसका ज्ञान होता है वह वाच्य कहा जाता है और जो पदार्थका स्मारक होता है वह वाचक कहलाता है। शक्तिको वृत्ति भी कहते हैं। साहित्यमें शक्ति तीन प्रकारकी मानी गयी है।

अभिधाशक्ति, लक्षणाशक्ति, व्यञ्जना शक्ति

वेदान्ती अभिधाशक्ति और लक्षणाशक्ति दो ही शक्ति मानते हैं। इस प्रकार वाचकपद तथा लाक्षणिक पदके भेदसे पद भी दो प्रकारके होते हैं, । वैसे वाक्य भी वाचक और लाक्षणिक भेदसे दो प्रकारके होते हैं। और पद तथा वाक्यके दो प्रकार होनेसे उनका अर्थ भी वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थरूपसे दो प्रकारके होते हैं। अभिधाशक्तिको वेदान्त-दर्शनमें मुख्या वृत्ति या शक्ति वृत्ति कहते हैं। वह मुख्या वृत्ति भी दो प्रकारकी है, एक योग और दूसरी रूढ़ि।

'अवयवशक्तिः योगः' अर्थात् प्रत्येक पदमें प्रकृति और प्रत्यय दो अवयव होते हैं उन दोनों अवयवोंमें जो अर्थको जनानेकी शक्ति होती है उसको योगशक्ति कहते हैं।

जैसे—पाचक पदकी भोजन बनानेवाले रसोइया रूप अर्थमें शक्ति है। इसके अवयव पच् धातुकी पाकमें शक्ति है और अक् प्रत्ययकी कर्तामें शक्ति है।

पच् प्रकृति तथा अक् प्रत्ययसे पाचक शब्द बनता है। इसमें पाक-कर्त्ता रसोइयका बोध होता है। इस प्रकारके शब्दोंको यौगिक शब्द कहते हैं।

'समुदायशक्तिः रूढिः' अर्थात् घ्, अ, ट्, अ इन वर्णोंका समुदाय रूप घट शब्दमें रूढि शक्ति है, अर्थात् प्रसिद्धिसेही घटरूप अर्थका बोध घटपद कराता है। किन्तु प्रकृति प्रत्ययसे बनकर घट शब्द द्वारा कम्बुग्रीवादिमान् व्यक्ति (घड़ा) अर्थ नहीं समझा जाता है, इसलिये यहां घट पदमें घड़ा रूप अर्थ जनानेकी जो शक्ति है, वह रूढि है।

वाक्यका लक्षण

"आकांक्षायोग्यतासन्निधिमत्पदसमुदायोवाक्यम्

अर्थात् आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधिसे युक्त पदोंके समुदायको वाक्य कहते हैं।

आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधिसे रहित पदोंके समुदाय वाक्य नहीं है और उससे किसी अर्थका बोध भी नहीं होता है।

अकांक्षा

... **आकांक्षा'** अर्थात् जिस पदका जिस अन्वय न बनता हो उस पदका उसपदकेसाथ जो सम

भिहार (सहप्रयोग) है, उसे आकांक्षा कहते हैं। जैसे—**'घटमानय'** (घड़ा ले आओ) इस वाक्यसे सुननेवालेको जो घड़ा ले आनेका ज्ञान होता है वह ज्ञान (बोध) केवल "घटन्" इस पदसे या केवल "आनय" इस क्रिया पदसे नहीं हो सकता है, किन्तु दोनों ही पदोंसे होता है इसलिये घटम्, इस पदके साथ जो "आनय" पदका प्रयोग और आनय पदके साथ जो घटम, इस पदका प्रयोग है वही आकांक्षा है।

तात्पर्य यह है कि-कारक पदका विना क्रियापदके अन्वय नहीं बन सकता है और क्रिया पदका विना कारक पदके अन्वय नहीं बन सकता है अतः एक दुसरे पदको एक दुसरे पदकी (परस्पर) आकांक्षा है।

योग्यता

'वाक्यार्थाबाधो योग्यता' अर्थात् वाक्यके अर्थका जो अन्य किसी प्रमाणसे बाध नहीं होना है, उसे योग्यता कहते हैं।

जैसे—**'जलेन सिंचेत्'** अर्थात् पेड़को जलसे सींचे, इस वाक्यार्थ काप्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाणसे बाध नहीं होता है क्योंकि जलमें सेचन क्रियाकी योग्यता है अर्थात् जलसे सींचना होता ही है परन्तु यदि कोई **'अग्निना सिंचेत्'** (आगसे सींचे) ऐसा कहे तो सुनने वालेको शाब्दबोध नहीं होता है क्योंकि आगमें पेड़ सींचनेकी योग्यता नहीं है, वह प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है।

सन्निधि

'पदानामविलम्बोच्चारणं सन्निधिः' अर्थात् जिस पदका

जिस पदके साथ अन्वय अपेक्षित हो उन दोनों पदोंका जो व्यवधान-रहित एक साथ उच्चारण है उसे सन्निधि कहते हैं। जैसे— 'घटमानय' यहांपर घटम्, इस पदके साथ बिना व्यवधानके जो आनय पदका उच्चारण है उसे सन्निधि कहते हैं।

यदि 'गिरिः, भुक्तं, वह्निमान्, देवदत्तेन, (पर्वत, खाया, देवदत्तने, अग्निवाला है) ऐसा कहें तो शाब्दबोध नहीं होता है, क्योंकि जिस पदका जिस पदके साथ अन्वय करना है उन्हें एक साथ न बोलकर बीच बीचमें दूसरे पद बोले गये हैं, अतः अर्थका पता नहीं लगता है। और घटम्, इस पदके उच्चारणके बाद प्रहरादि काल बिताकर आनयपदका उच्चारण हो तो सन्निधि नहीं होती है। इस प्रकारकी आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि इन तीनोंसे युक्त पदोंके समुदायको वाक्य कहते हैं। ऐसे ही वाक्योंसे शाब्दबोध होता है।

नैयायिक लोगोंने इन तीनके अलावा वक्ताकी इच्छारूप तात्पर्यको भी शाब्दबोधमें कारण माना है, क्योंकि बिना तात्पर्य-ज्ञानके 'सैन्धवमानय' इससे कहीं लवणका तथा कहीं घोड़ेका ज्ञान नहीं हो सकता है परन्तु यह बात प्रकरणसे हो जाती है।

पदोंका शक्तिग्रह **व्याकरण, कोश, उपमान, आप्तवचन, व्यवहार, वाक्यशेष, विवरण, सिद्धपदकीसन्निधि** से होता है।

अब लक्ष्य अर्थको निरूपण करनेके लिये दूसरी लक्षणा वृत्तिका निरूपण करते हैं।

लक्षणा

पूर्वोक्त शक्तिवृत्तिसे बोधित पदार्थको शक्यार्थ कहते हैं, उस शक्य पदार्थका जो लक्ष्यमाण पदार्थके साथ सम्बन्ध है उसे लक्षणा

कहते हैं। पदका परम्परासम्बन्धरूप लक्षणा है, क्योंकि पदका साक्षात् सम्बन्ध तो शक्य अर्थके साथ होता है और उस शक्यार्थका सम्बन्ध लक्ष्यार्थसे होता है अतः शक्यार्थ-द्वारा पदका सम्बन्ध लक्ष्यार्थके साथ होनेसे लक्षणावृत्ति परम्परासम्बन्धरूप है। जहां शक्य अर्थमें वक्ताका तात्पर्य सम्भव नहीं होता हो वहां पदका परम्परासम्बन्धरूप लक्षणा होती है, अतएव वक्ताका तात्पर्य लक्षणाका बीज है। जैसे--किसी आदमीने तम्बूमें बैठे हुए पुरुषको भोजन करानेके तात्पर्यसे **'मण्डपं भोजय'** यह वाक्य किसीको कहा। उस वचनको सुनकर सुननेवाला जडमण्डपमें भोजन करनेकी अयोग्यता देखकर मण्डप पदसे मंडपस्थ (तम्बूमें स्थित) पुरुष समझता है इसीका नाम लक्षणा है।

लक्षणा दो प्रकारकी होती है। १-केवल लक्षणा २-लक्षित लक्षणा।

'शक्यसाक्षात् सम्बन्धः केवल लक्षणा' अर्थात् पदके शक्यार्थके साक्षात् सम्बन्धको केवल लक्षणा कहते हैं। जैसे—**'गंगायां ग्रामः'** यहांपर गंगापदकी तीरमें लक्षणा होती है, गंगा पदका शक्य जो प्रवाह है उसका तीरसे साक्षात् सम्बन्ध (संयोग) है। अतः तीरमें गंगापदकी केवल लक्षणा है।

शक्यपरम्परा सम्बन्धः लक्षित लक्षणा अर्थात् पदके शक्य अर्थका जो लक्ष्य अर्थके साथ परम्परा सम्बन्ध है उसको लक्षित लक्षणा कहते हैं।

जैसे-**'द्विरेफो रौति'** इसका शक्यार्थ यह होता है कि-

दो रेफ शब्द करते हैं। परन्तु अक्षररूप रेफका (रकारका) रोना अ असम्भव है, इसलिये शक्य अर्थमें वक्ताका तात्पर्य नहीं है, किन्तु रेफवाला जो 'भ्रमर' शब्द है उसके शक्य अर्थमें द्विरेफ पदको लः है। भ्रमर शब्दका शक्यार्थ भौंरा है। यहां द्विरेफपदका शक्य दो रेफ हैं उनका अवयविताख्प सम्बन्ध भ्रमर शब्दमें है और भ्रमरशब्दका शक्ति वृत्तिरूप सबन्ध अपने वाच्य भौंरेमें है। शक्य द्विरेफ के सम्बन्धी जो भ्रमरपद है उसका सम्बन्ध भौं होनेसे शक्यका परम्परा सम्बन्ध है।

लक्षणा भी जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा, भागत्याग लः (जहदजहल्लक्षणा) के भेदसे तीन प्रकारकी है।

जहल्लक्षणा

शक्यार्थपरित्यागेन तत्संबन्ध्यार्थान्तरे वृत्तिः जहल्लक्ष

अर्थात् पदके शक्य अर्थका त्यागकरके उस शक्य अर्थका सम्बन्धी अन्य पदार्थ है उसमें जो पदकी वृत्ति (शक्ति) है उसका नाम ज लक्षणा है। जैसे 'गंगायां घोषः' इस वाक्यको सुनकर श्रोता पुरुष गं पदके शक्यार्थ जल-प्रवाहमें ग्रामकी आधारताको अनुपपत्तिको देख उस गंगापदकी तीरमें लक्षणा करता है। अर्थात् गंगाके तीर (तटपर) ग्राम है, यह अर्थ उस वाक्यका समझता है।

यहां गंगापदके शक्य अर्थ जल-प्रवाहको छोड़कर उस शक्यके संयोगरूपसंबन्धी जो तीर पदार्थ है उस तीरमें जो गंगापद की शक्ति है उसको जहल्लक्षणा कहते हैं।

अजहल्लक्षणा

'शक्यार्थापरित्यागेनतत्संबन्ध्यर्थान्तरे वृत्तिः अज हल्लक्षणा' अर्थात् पदके जोशक्य अर्थ है उस शक्य अर्थको

त्यागकरउस शक्य अर्थके संबन्धी अन्य पदार्थमें उस पदकी जो वृत्ति (शक्ति) है उसको अजहल्लक्षणा कहते हैं।

जैसे— **'काकेभ्योदधि रक्षनाम्'** यहां पर शक्यार्थ काकको नहीं छोड़ते हुए काक-संबन्धी दध्युपघातक बिलाड़ आदिमें काक पदकी शक्ति है।

यहां वक्ताका तात्पर्य दधिकी रक्षामें है। वह बिलाड़ आदिसे रक्षाके बिना असम्भव है, अतः काकपदकी दधि-उपघातकमें अर्थात् दहीके विनाशक जन्तुमात्रमें शक्ति है।

उसी प्रकार **'छत्रिणो यान्ति'** यहांपर छत्रीपदकी छत्र-धारी जनसमुदायमें जो शक्ति है वह अजहल्लक्षणा है।

भागत्याग लक्षणा

शक्यैकदेशपरित्यागेन शक्यैकदेशे वृत्तिः भागत्यागलक्षणा

अर्थात् जहां पदके शक्यार्थके एक भागको छोड़कर शेष एक भागमें ही जो उस पदकी शक्ति है वह भागत्याग लक्षणा है। इस लक्षणाको जहद अजहल्लक्षणा भी कहते हैं। जैसे-**'सोऽयंदेवदत्तः'** इस वाक्यको सुनकर सुननेवाला 'सः' और 'अयम्' इन दोनों पदोंकी दकारादि-विशिष्ट देवदत्तनामवाले पुरुषमें लक्षणा करता है।

यहां दूरदेशवर्त्ती, परोक्ष देवदत्तनामा पुरुष 'सः' पदका शक्यार्थ है। और निकटदेश वर्त्ती, प्रत्यक्ष देवदत्त नामा पुरुष 'अयम्' पदका शक्यार्थ है। यहां 'सः' और 'अयम्' इन दोनोंके जो दूरदेश और निकटदेश, अथवा परोक्ष तथा प्रत्यक्षरूप वाच्य भाग हैं,

अंधकार-प्रकाशकी तरह परस्पर विरुद्ध होनेसे उन दोनोंका अभेद असम्भव है, अतः 'सः' पदके वाच्य अर्थके एक भाग देशकालको और अयम् पदके वाच्यअर्थके एक भाग देशकालको त्यागकर उन दोनों पदोंको अवशिष्ट एक भागमें (विशेष्य भागमें) अर्थात् केवल देवदत्तनामा पुरुषमें 'सः' और 'अयम्' पद की लक्षणा है। इस प्रकार लक्षणा करनेसे 'सोऽयम् देवदत्तः यहां तीनों पदोंके द्वारा अभिन्न देवदत्तकाही बोध होता है।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यमें भी भागत्याग लक्षणा है। जैसे जीव और ब्रह्मके अभेदके तात्पर्यसे कहे गये 'तत्वमसि' वाक्यको सुनकर श्रोता पुरुष 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों पदोंकी अखंड चेतनमें लक्षणा करता है। क्योंकि तत्वमसि, इस वाक्यमें स्थित "असि" पद उन दोनों पदार्थोंका अभेद प्रतिपादन करता है, परन्तु तत्पद-शक्यार्थ माया-विशिष्टचेतनका और त्वम्पद-शक्यार्थ अन्तःकरण-विशिष्टचेतनका परस्परविरोध होनेसे अभेद होना असंभव है, अतः इन दोनों पदोंके शक्यार्थके एक देश माया और अन्तःकरणको छोड़कर चेतनमात्रमें लक्षणा है और चेतनसे चेतनका अभेद होना तथा समानाधिकरण्य होना संभव है। और उसी अभिन्न अखंड चेतनमें वक्ताका तात्पर्य है।

उपर्युक्त तीन प्रकारकी लक्षणा पुनः प्रयोजनवतीलक्षणा तथा निरूढ लक्षणाके भेदसे दो प्रकारकी होती है। जैसे-गंगापदकी (गंगायां-ग्रामः) यहांपर तीरमें जो लक्षणा है वह प्रयोजनवती लक्षणा है इसी लिये 'तीरे ग्रामः' न कहकर 'गंगायां ग्रामः' ऐसा कहा जाता है।

'तीरे ग्रामः' कहनेसे तीरमें उतने शैत्य,पावनत्वादि प्रतीत नहीं होते हैं जितने 'गंगायां ग्रामः' कहनेसे गंगाके धर्म शैत्य (शीतलता) पावनत्व आदि तीरमें प्रतीत होते हैं।

निरूढ़ लक्षणा जैसे-**'नीलो घटः'** यहां नीलपदका नील गुण अर्थ होनेपर भी लक्षणासे नीलगुण-युक्त घटरूप गुणीका ही बोध होता है। क्योंकि ऐसी ही रूढ़ि है, अतः यहां रूढ़िलक्षणा है। प्रयोजनके अभावसे प्रयोजनवती नहीं है।

इन सब लक्षणाओंमें कई लोग केवल अन्वयानुपपत्तिको ही लक्षणाका बीज (हेतु) मानते हैं। अर्थात् अन्वय (शक्य अर्थका संबन्ध) उसकी अनुपपत्ति (असंगति) जहां हो वहीं लक्षणा होती है। किन्तु यह नियम व्यभिचरित है। यद्यपि 'गंगायां ग्रामः' इत्यादि स्थानमें यह नियम हो सकता है परन्तु सर्वत्र नहीं होता है। जैसे-**'यष्टीः प्रवेशय'** यहांपर अन्वयानुपपत्ति नहीं होनेपर भी लक्षणा होती है 'यष्टीः प्रवेशय' यहांपर यष्टिपदकी यष्टि-धारी (लाठीवाले) में लक्षणा है, वह नहीं होगी क्योंकि यष्टिपदके शक्य (लाठी) का प्रवेशमें, अन्वय (संबन्ध) संभव है। क्योंकि लाठीका भी प्रवेश कराना (लाना) हो सकता है अतः तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणामें बीज (हेतु) है, अन्वयानुपपत्ति हेतु नहीं है। तात्पर्य (वक्ताकी इच्छा) उसकी अनुपपत्ति अर्थात् शक्य अर्थमें असंगति रूप तात्पर्यानुपपत्ति 'यष्टीः प्रवेशय' यहां लक्षणाका बीज है। कारण कि भोजनके समय वक्ताका तात्पर्य लाठीके ले आनेमें कभी नहीं हो सकता है अतः यष्टिपदकी यष्टिधरमें (लाठीवाले पुरुषमें) लक्षणा है। क्योंकि भोजनके समय

घटाका तात्पर्य है। इसी प्रकार सर्वत्र लक्षणामें समझना चाहिये और इसीलिये यहुतोंने तात्पर्यानुपपत्तिको ही लक्षणाका बीज माना है।

कई एक शास्त्रकार शक्ति तथा लक्षणासे भिन्न शब्दकी तीसरी गौणीवृत्ति भी मानते हैं। जैसे **'सिंहो देवदत्तः'** यहांपर सिंहपद गौणी वृत्तिसे पुरुषका बोधक है। जो गुण पदके शक्य अर्थमें हो, वह गुण शक्य अर्थसे भिन्न अर्थमें शब्दकी गौणी वृत्तिसे बोधित होता है। जैसे सिंहपदके शक्य अर्थ सिंह पशुमें जो शूरता, क्रूरता आदि गुण हैं वे गुण देवदत्तनामके पुरुषमें (जो सिंह पदका शक्यार्थ नहीं है) शब्दकी गौणी वृत्तिसे कहे जाते हैं।

शब्दकी एक और चौथी वृत्ति है जिसका नाम व्यंजना वृत्ति है। व्यंजनावृत्तिसे प्रतीत होनेवाले अर्थको व्यंग्य अर्थ कहते हैं। जैसे शत्रुके घरमें भोजन करनेके लिये उद्यत पुरुषको उसका मित्र कहता है कि **'विष भुंक्ष्व'**। यहां शक्ति वृत्तिसे तो वाक्यका 'जहर खाओ' यह अर्थ होता है। परन्तु मित्रका यह अभिप्राय कभी नहीं हो सकता है, अतः व्यंजनावृत्तिसे 'विष खालो, पर शत्रुके घरमें भोजन मत करो, यह व्यंग्य अर्थ निकाला जाता है।

शब्दकी उपर्युक्त चार वृत्तियोंमेंसे वेदान्तशास्त्रमें शक्ति (अभिधा) और लक्षणा वृत्तिसे ही काम चलता है। अतः गौणीवृत्ति और व्यंजनावृत्तिका यहां संक्षेपसे ही वर्णन किया गया है।

जिस पुरुषको उपर्युक्त शक्ति, लक्षणावृत्तिका तथा आकांक्षा, ..., आसत्ति, तात्पर्य आदिका ज्ञान रहता है, उसीको शाब्दबोध है।

आसत्ति

'शक्ति लक्षणाऽन्यतरसम्बन्धेनाव्यवधानेन पद-जन्या पदार्थोपस्थितिः आसत्तिः' अर्थात् पदमें अपने अर्थका जो शक्तिरूप अथवा लक्षणारूप सम्बन्ध है उस सम्बन्धसे जो व्यव-धान-रहित पदसे पदार्थकी स्मृति होती है उसे आसत्ति कहते हैं।

जैसे—'घटमानय' इस वाक्यको सुनकर मनुष्यको घटपदसे शक्तिरूप सम्बन्धके द्वारा घड़ेका स्मरण हो आता है और आनय पद से शक्तिरूप सम्बन्ध-द्वारा ले आनारूप क्रियाका स्मरण हो जाता है। और 'गंगायां ग्रामः' इस वचनको सुनकर मनुष्यको गंगा पदसे लक्षणा रूप सम्बन्ध-द्वारा किनारेका स्मरण होता है, एवं ग्रामपदसे शक्ति रूप सम्बन्ध द्वारा गांवका स्मरण हो आता है इसीका नाम आसक्ति है।

वक्तृ-तात्पर्य और शब्द-तात्पर्य भेदसे तात्पर्यके दो प्रकारके होते हैं। वाक्यार्थके समझनेमें तात्पर्यकी भी आवश्यकता होती है।

वक्तृ-तात्पर्य

'पुरुषाभिप्रायः वक्तृतात्पर्यम्' इस वाक्यसे सुनने वालेको अमुक अर्थका ज्ञान हो, इस तरहकी जो वक्ताकी इच्छाविशेष है उसे वक्तृ-तात्पर्य कहते हैं। इसको बहुतोंने शाब्दी प्रमाके प्रति कारण माना है परन्तु यह कार्य-कारण भाव व्यभिचरित है, क्योंकि जिसके नहीं रहनेपर कार्य न हो, और जिसके रहनेपर कार्य हो वही उस कार्यका कारण कहा जा सकता है। और जिसके विना भी कार्य हो

जाता है वह अन्यथा सिद्ध है, कारण नहीं है। जैसे कुम्हार, चक्र और दण्ड आदिके बिना घड़ा, कभी नहीं बन सकता है अतः वे सब घट रूप कार्यके कारण होते हैं। और मिट्टी ढोनेवाला गदहा कुम्हारका न भी रहे तो भी घड़ा बन सकता है। घड़े बननेके समय गदहेका रहना आवश्यक नहीं है, अतः गदहा घटरूपकार्यके प्रति अन्यथा सिद्ध है। इसी तरह वक्तृ-तात्पर्यके बिना भी शाब्द-बोधरूप कार्य हो जाता है, अतः शाब्दबोधमें वक्तृ-तात्पर्य अन्यथा सिद्ध है। क्योंकि तोता, मैना आदिके शब्दोंको सुनकर श्रोताको शाब्दबोध हो जाता है, और उन पक्षियोंका यह तात्पर्य नहीं रहता है कि-हमारे द्वारा उच्चारण किये गये राम शब्दसे सुननेवालेको राजा दशरथके पुत्रका बोध हो या जिसका योगी लोग निरंतर ध्यान करते हैं उस रामका ज्ञान हो, तथापि शाब्दबोध हो जाता है, इसलिये वक्तृ-तात्पर्य शब्दार्थ-ज्ञानमें कारण नहीं है। किन्तु शब्द-तात्पर्य शाब्दबोधमें कारण है।

शब्द-तात्पर्य

'तदर्थप्रतीति-जननयोग्यत्वं शब्द-तात्पर्यम्' अर्थात् उन उन शब्दोंमें जो उन उन अर्थोंके जनानेकी योग्यता है उसे शब्द-तात्पर्य कहते हैं। इसमें भी लौकिक शब्दोंके तात्पर्यका ज्ञान प्रकरण आदिसे होता है। जैसे **'सैंधवमानय'** इस वाक्यमें जो सैंधव पद है वह निमक और घोड़ा दोनोंका वाचक है। अतः भोज-नके समय इस वाक्यको सुनकर सुननेवालेको उस भोजन प्रकरणके

वश उस सैन्धवपदका तात्पर्य नमकमें निश्चित होता है, और यात्राके समय उसी वाक्यको सुनकर श्रोताको यात्रा-प्रकरण वश उस सैंधवपदका घोड़ेमें तात्पर्य ज्ञान होता है। यदि इस शब्द-तात्पर्यको शाब्द-बोधमें कारण न मानें तो एक ही सैंधव पदसे कभी नमकका बोध और कभी घोड़ेका बोध नहीं होना चाहिये। अतः शब्द-तात्पर्यको ही शाब्द बोधके प्रति कारण मानना चाहिये। और वैदिक शब्दोंके तात्पर्यका ज्ञान तो उपक्रम आदि षट् लिङ्गसे (छः लिंगोंसे) होता है।

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्य-निर्णये। अर्थात् उपक्रम और उपसंहार इन दोनोंकी एकता, अभ्यास अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्ति तात्पर्यके निर्णयमें ये छः लिंग (हेतु) हैं।

उपक्रमोपसंहारकी एकता

वस्तुनः प्रतिपाद्यस्यादावन्ते प्रतिपादनम्।
उपक्रमोपसंहारौ तदैक्यं कथितं बुधैः॥

जिसका आगे प्रतिपादन करना है उसका प्रकरणके आदिमें जो प्रतिपादन है, उसको उपक्रम कहते हैं। तथा अन्तमें जो प्रतिपादन है, उसे उपसंहार कहते हैं। इन दोनोंकी जो एकता है वह भी लिंग माना गया है। जैसे छान्दोग्य उपनिषद्के छठे अध्यायके आदिमें उद्दालक मुनिने श्वेतकेतुको कहा है कि **'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** अर्थात् हे प्रिय ! यह समस्त दृश्य-

मान जगत् सृष्टिके पूर्व सत् ब्रह्मरूप ही था। वह सत् वस्तु ब्रह्म एक ही द्वैत-रहित है, इस प्रकार आदिमें कहकर फिर उस अध्यायके अन्तमें कहा है कि **ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्** यह सारा संसार अद्वितीय ब्रह्मरूप ही है, उससे भिन्न नहीं है।

अभ्यास

यस्तुनः प्रतिपाद्यस्य पठनं च पुनः पुनः।
अभ्यासः प्रोच्यते प्राज्ञैः स एवावृत्तिशब्दभाक्॥

जिसका प्रतिपादन करना है उस वस्तुका उस प्रकरणके बीचमें जो बार बार पढ़ना है, उसको अभ्यास या आवृत्ति कहते हैं। जैसे उसी अध्यायमें **'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'** इस वाक्यको नौ बार पढ़कर उस अद्वितीय वस्तुकाही पुनः पुनः प्रतिपादन किया गया है।

अपूर्वता

श्रुतिभिन्न प्रमाणेनाविषयत्वमपूर्वता।

जिसका प्रति-पादन करना है उसको जो श्रुतिसे भिन्न प्रत्यक्ष आदि लौकिक प्रमाणों द्वारा अविषयता है उसको अपूर्वता कहते हैं। अद्वितीय ब्रह्मकी अपूर्वता उसी छठे अध्यायमें **'यं वै सौम्यैतमणिमानं न निभालयसे'** (हे सौम्य जिस सूक्ष्म वस्तुको तूं प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे नहीं देखता है) इत्यादि वचनोंसे प्रतिपादित है।

फल

श्रूयमाणं तु तज्ज्ञानात्तत्प्राप्त्यादि प्रयोजनम् ।
फलं प्रकीर्तितं प्राज्ञैर्मुख्यं मोक्षैक लक्षणम् ॥

प्रकरणमें प्रतिपादित जो वस्तु है उसके ज्ञानसे जो उस वस्तुकी प्राप्तिरूप प्रयोजन श्रुतिमें कथित है उसको फल कहते हैं उसको मोक्ष-रूप फल मुख्य फल है।

जैसे उसी छठे अध्यायमें कहा है कि 'आचार्यवान्पुरुषो तस्यतावदेव चिरं यावन्नविमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' अर्थात् जिस अधिकारीने ब्रह्मवेत्ता गुरुके मुखसे वेदान्तशास्त्रका श्रवण किया है, वही पुरुष तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्मको 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकारसे साक्षात्कार करता है। और उस ब्रह्मवेत्ताकी तभी तक स्थिति रहती है जब तक प्रारब्ध कर्मके वश देहादि बन्धनसे मुक्त नहीं होता है। भोगसे प्रारब्ध-क्षय होनेपर वह पुरुष ब्रह्मरूप ही हो जाता है। उस श्रुतिमें अद्वितीय ब्रह्मके ज्ञानसे अद्वितीय ब्रह्मकी प्राप्तिरूप प्रयोजन कथित है, वही मुख्य फल है।

अर्थवाद

वस्तुनः प्रतिपाद्यस्य प्रशंसनमथापिवा ।
निंदा तद्विपरीतस्य ह्यर्थवादः स्मृतो बुधैः ॥

प्रकरणमें प्रतिपादित अद्वितीय वस्तुकी जो प्रशंसा है उसको अर्थवाद कहते हैं। और उससे विपरीत जो द्वैत है उसकी निंदाको भी अर्थवाद कहते हैं।

जैसे उसी छठे अध्यायमें कहा है कि 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञानम्' अर्थात् जिस एक वस्तुके सुननेसे अश्रुत वस्तु भी श्रुत हो जाती है, और जिस वस्तुके मनन करनेसे अचिन्त्य वस्तु भी मननका विषय हो जाती है और जिस वस्तुके विचार करनेसे अज्ञात वस्तु भी विज्ञात हो जाती है, वही जानने योग्य है, इस वाक्यसे उस अद्वितीय वस्तुकी (ब्रह्मकी) स्तुति की है। और ब्रह्मसे भिन्न सारा द्वैतरूप प्रपंच नाशवान् और बन्धनका कारण है, इत्यादि वाक्यसे द्वैतकी निंदा की गयी है, दोनों अर्थवाद हैं।

उपपत्ति

वस्तुनः प्रतिपाद्यस्य युक्तिभिः प्रतिपादनम्।
उपपत्तिः प्रविज्ञेया दृष्टांताद्या ह्यनेकधा॥

प्रतिपादनीय वस्तुका जो दृष्टांत आदि अनेक युक्तियोंसे प्रतिपादन है उसको उपपत्ति कहते हैं। जैसे उसी छठे अध्यायमें मिट्टी तथा सोना आदिका दृष्टांत देकर कारणसे भिन्न कार्यकी सत्ताका निषेध करके उस अद्वितीय ब्रह्मका प्रतिपादन किया है।

जैसे उपक्रम-उपसंहारकी एकता, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद तथा उपपत्तिसे छांदोग्य उपनिषद्के छठे अध्यायमें अद्वितीय ब्रह्में श्रुतियोंका तात्पर्य निश्चय किया गया है, उसी प्रकारसे समस्त [illegible] द्वैत-रहित ब्रह्ममें ही तात्पर्य है।

श्रवण

इस प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतियोंके श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेसे अद्वितीय, ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है। उपनिषदोंके द्वारा अद्वितीय ब्रह्मका निश्चय करनेको ही श्रवण कहते हैं। श्रवणसे बुद्धिकी मंदता दूर होती है।

मनन

जिस अद्वितीय वस्तुका उपनिषदोंमें श्रवण किया है, उसके वेदके अनुकूल युक्तियोंसे चिंतन करनेको मनन कहते हैं। जैसा कहा है कि-**'श्रुतस्यार्थस्योपपत्तिभिश्चिन्तनं मननम्'**। मनन कुतर्कोंका निवर्तक है।

निदिध्यासन

'विजातीय प्रत्ययतिरस्कारेण सजातीय प्रत्ययवाहीकरणं निदिध्यासनम्' अर्थात् विजातीय चित्त-वृत्तियोंका तिरस्कार करके जो सजातीय वृत्तियोंका प्रवाह करना है, उसको निदिध्यासन कहते हैं। जैसे देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, तथा स्त्री, पुत्र, धन आदि अनात्म वस्तुओंमें जो आत्म-बुद्धि या आत्मीय बुद्धि है उसको और द्वैतरूपप्रपंचके दर्शनको विजातीय वृत्ति कहते हैं। और 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकारके चित्तवृत्तिको सजातीय वृत्ति कहते हैं। विपरीत भावनामें जो दुराग्रह है उसको निदिध्यासन दूर करता है। अथवा श्रवणसे प्रमाण-गत असंभावना दूर होती है। मननसे प्रमेय-गत असं-

भावना दूर होती है। निदिध्यासनसे विपरीत भावना दूर होती है। इस प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे असंभावना और विपरीत भावनाका नाश होनेपर तत्त्वमसि आदि महावाक्यसे जीव ब्रह्मकी एकता ज्ञानके अनंतर 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार अधिकारीको अपरोक्ष ज्ञान होता है। और उस ब्रह्मके साक्षात्कारसे मनुष्यके अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, तथा उसे परमानंदकी प्राप्तिरूप मोक्ष मिलता है, अतः श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनका मोक्षमें उपयोग है। श्रुति भी साधन-चतुष्टयके बाद श्रवणादिका उपदेश करती है। **'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः'** अर्थात् मुमुक्षुको आत्माका साक्षात्कार करना चाहिये, क्योंकि मोक्षरूप परम पुरुषार्थ एकमात्र आत्म-साक्षात्कार ही है। और उस साक्षात्कारके श्रवणादि साधन हैं अतः वे भी आवश्यक हैं। मनन तथा निदिध्यासन श्रवणाधीन होनेसे तीनोंमें श्रवण प्रधान है। और वह श्रवण शब्दमय होनेके कारण शब्दप्रमाण भी आत्म-साक्षात्कारमें परम्परया उपयोगी है।

द्वादश-रत्न समाप्त

त्रयोदश रत्न

ख्यातिका विचार करना तत्त्व जिज्ञासुओंका नितान्त आवश्यक है। क्योंकि जब तक इस दुरूह, विचित्र संसारके वास्तविक स्वरूपके विषयमें पूर्ण रूपसे गवेषणा न की जाय तब तक मोक्षरूप पुरुषार्थकी प्राप्ति तो दूर है, किन्तु उसकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्ति भी विवेकी जिज्ञासुकी नहीं हो सकती है। और ख्यातिके विचार करनेसे

संसारके वास्तविक स्वरूपका पता लग जाता है अतः ख्यातिका स्वरूप विचारणीय है।

ख्यातिका निरूपण

प्रातिभासिक (मिथ्या वस्तु) की जो सत्यरूपसे प्रतीति होती है उसे ख्याति कहते हैं।

ख्यातिके विचारमें छः प्रकारके मत भेद हैं।

असत्-ख्याति, आत्म-ख्याति, अन्यथाख्याति, सन्-ख्याति, अख्याति, अनिर्वचनीय ख्याति।

जैसे--रज्जुमें सर्पकी जो प्रतीति, लोगोंको होती है, यद्यपि वह प्रतीति (ज्ञान) मिथ्या (दुष्ट) है, किन्तु सत्यरूपसे प्रतीति होती है, और जब रज्जु रूप अधिष्ठान की प्रतीति हो जाती है, तब सर्पकी प्रतीति बाधित हो जाती है और जब शुक्तिरूप अधिष्ठानकी प्रतीति हो जाती है तब रजतकी प्रतीति बाधित हो जाती है, उसी-प्रकार सत्, चित्, आनन्द रूप अद्वितीय ब्रह्ममें समस्त संसारकी प्रतीति लोगोंको अनादि कालसे होती चली आ रही है,यह व्यवहारिक संसारको प्रतीति भी रज्जु-सर्प शुक्ति-रजतकी प्रतीतिकी तरह मिथ्या (दुष्ट) है, अधिष्ठान रूप ब्रह्मका अनुभव हो जानेपर संसारकी प्रतीति भी बाधित हो जाती है।

सारांश यह कि एक ही ब्रह्म विश्वरूपसे सर्वत्र व्याप्त हैं। सर्वत्र उन्हींकी सत्ता है, अन्य जो कुछ सांसारिक पदार्थ देखनेमें आते है वे सब रज्जु-सर्पको तरह मिथ्या हैं। उस मिथ्या वस्तुको जो सत्य-रूपसे प्रतीति होती है उसमें शास्त्रोंका मत भेद है।

शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध **असत्-ख्याति** मानते हैं।

योगाचार क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध **आत्म-ख्याति** मानते हैं

न्याय और वैशेषिक (काणाद) शास्त्रमें **अन्यथा-ख्याति** कही गयी है।

कई एक तान्त्रिक लोग **सत्-ख्याति** मानते हैं।

सांख्य, योग तथा मीमांसा शास्त्रमें **अख्याति** *कही गयी है।*

वेदान्तमें **अनिर्वचनीय-ख्याति** का प्रतिपादन किया गया है।

असत्-ख्याति

असत् ख्यातिके अनुयायी शून्य वादी बौद्धोंका यह मत है कि समस्त प्रपञ्च असत्रूप है जिस प्रकार रज्जु-सर्प अत्यन्त असत् है उसी प्रकार समस्त प्रपञ्च भी अत्यन्त असत् है।

उस अत्यन्त असत् रज्जु-सर्पकी जैसे प्रतीति (भान) होती है, उसी प्रकार अत्यन्त असत् प्रपञ्चकी भी प्रतीति होती है यह असत्-ख्याति है। असत् पदार्थकी जो ख्याति (भान) है वह असत्-ख्याति है।

आत्म-ख्याति

विज्ञानवादी बौद्धका मत है कि रज्जुमें या बिलमें कहीं भी बाहरमें सर्प नहीं है,केवल बुद्धिमें है अर्थात् सर्प बुद्धिस्वरूप है,उसको कभी बिलमें ... हैं,कभी रज्जुमें समझते हैं यही भ्रान्ति है। उसका

भाव करके बुद्धिमय उसे समझना चाहिये। उसका परिवर्त्तन प्रत्येक क्षणमें होता रहता है अर्थात् प्रत्येक क्षणमें बुद्धिकी उत्पत्ति और नाश हो जाते हैं, किन्तु क्षणिक परिवर्त्तनका अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप होनेके कारण लोगोंको स्पष्ट मालूम नहीं पड़ता है।

उसीप्रकार यह चौदहो भुवन बुद्धिमें ही कल्पित हैं, बुद्धिके बाहर कहीं कुछ नहीं है अर्थात् समस्त प्रपञ्च बुद्धिमय है; उसको प्रपञ्चरूप से समझना भ्रम है, किन्तु सबको बुद्धिमय समझना तत्त्वज्ञान है।

समस्त पदार्थ क्षण २ में बदलते रहते हैं, जो वस्तु इस क्षणमें है वह उत्तर क्षणमें नहीं है, नयी उत्पन्न हो जाती है किन्तु समानाकार होने और अति सूक्ष्म परिवर्तन होनेके कारण स्पष्ट मालूम नहीं पड़ता है।

बालकका क्षणिक परिवर्त्तन होते २ वार्द्धक्य (बुढ़ापा) आ घेरता है। बालक एकाएक वृद्ध नहीं हो जाता है।

इस मतमें बुद्धिको विज्ञान कहते हैं अतः विज्ञानवाद नामसे ख्यात है और उसी विज्ञानको (बुद्धिको) आत्मा भी कहते हैं।

आत्मा अर्थात् क्षणिक बुद्धिरूप विज्ञानकी जो ख्याति अर्थात् भान है वह आत्म-ख्याति है।

अन्यथा-ख्याति

अन्यथा ख्यातिके अनुयायी नैयायिक और वैशेषिकोंका यह अभिप्राय है कि बिल आदि प्रदेशमें अर्थात् बिलमें सत्य (व्यवहारिक) सर्प है।

किन्तु जिसकी आंखमें दोष नहीं है वह बिल आदि प्रदेशमें, हो जहां सर्प सत्य है, सर्पको देखता है, रज्जु-प्रदेशमें सर्पको नहीं देखता

है, और जिसकी आंखमें दोष है वह बिल प्रदेशस्थ सर्पको देखते हुए संमुख प्रदेशस्थ जो रज्जु है उस रज्जुमें भी सर्पको देखता है। अर्थात् रज्जुमें उसको रज्जुत्वका भान नहीं होता है किन्तु सर्पत्वका भान होने लगता है।

बिल आदि प्रदेशमें सर्पका भान होते हुए भी नेत्र-दोषके कारण रज्जु-प्रदेशमें भी सर्पत्वकी प्रतीति होती है।

शंका—दोष हो जानेसे नेत्रकी शक्ति कम होती है। निर्दुष्ट नेत्र रहने पर भी दूरत्व रहने तथा प्रसाद (मकान) आदि वस्तुओं के व्यवधान (आड़) रहनेके कारण जब बिल आदि प्रदेशमें भी लोग सर्पको नहीं देख सकते हैं, तब दुष्ट नेत्र होने पर तो बिल आदि दूर प्रदेशमें सर्पको कभी नहीं देख सकते हैं, किन्तु अपने संमुख रज्जु-प्रदेशमें ही सर्पको देख सकते हैं।

समाधान—दोषका सर्वत्र यह स्वभाव नहीं है कि शक्तिको कम करदे। दोष हो जानेसे कहीं २ शक्ति बढ़ भी जाती है जैसे:-

जिसको पित्त आदि दोषसे भस्मक रोग उत्पन्न हो जाता है चौगुना भोजन करनेपर भी उसे तृप्ति नहीं होती है। भूख लगी ही रहती है, क्योंकि उसकी जठराग्निमें पित्त आदि दोषसे पाचनशक्ति बढ़ जाती है, उसी प्रकार नेत्रमें तिमिरादि दोष होनेपर भी दूर प्रदेशस्थ अर्थात् बिल-प्रदेश स्थित सर्पका प्रत्यक्ष होते हुए रज्जुमें भी सर्पत्वका ज्ञान दोष-जन्य होता है अर्थात् रज्जुको सर्प समझने लगता है।

नैयायिकोंमें भी चिन्तामणि नामक ग्रन्थके रचयिता (चिन्तामणिकार) का यह मत है कि रज्जु के संमुख अवस्थित मनुष्यको अत्यन्त दूरवर्त्ती बिलमें स्थित सर्पका भी ज्ञान नेत्र-दोषसे होनेपर तो बाचके जो मकान आदि अनेक वस्तु हैं, उनका भी सर्पके ज्ञानके साथ २ ज्ञान होना चाहिये, परन्तु उन वस्तुओंका ज्ञान नहीं होता है अतः सर्पका ज्ञान बिल आदिके प्रदेशमें नहीं होता है,किन्तु तिमिरादि दोष-प्रयुक्त रज्जु के प्रदेशमें ही अर्थात् रज्जु का रज्जु स्वरूपसे नहीं,किन्तु सर्पत्व रूपसे भान (अनुभव) होता है। रज्जु का ही अन्यथा अर्थात् सर्पत्व रूपसे जो ख्याति (अनुभव) है वह अन्यथा ख्याति है।

सत्-ख्याति

कई एक तान्त्रिकका यह अभिप्राय है कि शुक्तिके अवयवके साथ रजतके अवयव सदा रहते हैं शुक्तिके अवयव और रजतके अवयव दोनों सत्य हैं एक भी मिथ्या नहीं है। जब दोष-सहित नेत्र-वृत्तिका संयोग रजतके अवयवके साथ होता है तब उन रजतावयवसे रजत उत्पन्न हो जाता है और **'इदं रजतम्'** अर्थात् यह रजत है, इस प्रकार अनुभव होने लगता है, और शुक्तिके ज्ञान हो जानेसे उस उत्पन्न रजतका अपने अवयवमें जब ध्वंस (विनाश) हो जाता है तब **'इयं शुक्तिः'** अर्थात् यह शुक्ति (सीपी) है इस प्रकार अनुभव होने लगता है अपने अपने अस्तित्वके समयमें दोनों ज्ञान सत्य हैं।

सत् अर्थात् सत्य रजतकी जो ख्याति है वह सत्-ख्याति है।

अख्याति

प्रभाकर आदि मीमांसकका मत है कि जैसा ज्ञेय होता है उसीके अनुसार ज्ञान होता है । दूसरी वस्तुका ज्ञान कभी नहीं होता है, अतः ज्ञेय रज्जु और सर्पका ज्ञान, यह कहना अत्यन्त विरुद्ध है अर्थात् नेत्रका संयोग जब रज्जुसे होता है तब रज्जुका ही ज्ञान (अनुभव) होता है सर्पका ज्ञान नहीं होता है, किन्तु यह ज्ञान सामान्य है अर्थात् इदं रूपसे रज्जुका ज्ञान है और उसी समय सर्पका स्मरणात्मक ज्ञान होता है, और उन दोनों ज्ञानके अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान तथा स्मृतिज्ञानके भेदका अज्ञान हो जाता है । सारांश यह कि 'अयं सर्पः' 'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रम-स्थलमें दो ज्ञान हैं । एक तो इदम् अंश प्रत्यक्षात्मक ज्ञान और दूसरा रजतांशमें स्मरणात्मक ज्ञान है । किन्तु दोनों ज्ञानोंका जो भेद है; दोष-प्रयुक्त उसका अज्ञान हो जाता है । सारांश यह कि रज्जु का अनुभवात्मक ज्ञान, और सर्पका स्मृत्यात्मक ज्ञान अलग २ है, किन्तु भेदके अज्ञान हो जानेसे यह सर्प है, इस प्रकारकी प्रतीति होने लगती है अर्थात् प्रमाता, प्रमाण आदिमें दोष रहनेके कारण यह ज्ञान नहीं होता है कि 'इदम् अंशका अर्थात् सामान्य अंशका तो प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है और विशेष अंशका (सर्पका) स्मरणात्मक ज्ञान है ।

अख्यातिवादीके मतमें भेदाग्रहसे रज्जुमें सर्प प्रतीत होता है और इसी प्रकार आत्मामें संसार प्रतीत होता है ।

असत्-ख्यातिका खण्डन

रज्जु-सर्प आदि सम्पूर्ण प्रपञ्च असत् है असत्की ही प्रतीति

होती है, यह कहना असत्-ख्यातिवादीका अत्यन्त असमीचीन है क्योंकि असत्की प्रतीति नहीं होती है। यदि असत्की भी प्रतीति मानें तो वन्ध्या-पुत्र, शश-शृंग तथा आकाश-पुष्पकी भी प्रतीति होनी चाहिये, अतः असत्की प्रतीति नहीं होती है क्योंकि असत् वस्तुका कोई स्वरूप नहीं होता है, और स्वरूप नहीं होनेसे उसका ज्ञान भी नहीं होता है। प्रकृतमें '**इयं शुक्तिः**''**अयंसर्पः**' इस प्रकार प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हो रहा है, उसको असत् कहना सर्वथा युक्ति-शून्य है, अतः असत्-ख्याति समीचीन नहीं है

आत्म-ख्यातिका खण्डन

क्षणिक विज्ञानके सिवाय अन्य कुछ भी पदार्थ नहीं है किन्तु क्षणिक विज्ञान ही है और वह क्षणिक विज्ञान ही सर्परूपसे प्रतीत (भात) होता है, यह कहना आत्म-ख्यातिवादीका अत्यन्त असमीचीन है। क्योंकि क्षणिक विज्ञानरूप बुद्धि तो आन्तर है,अतः सर्पकी प्रतीति भी आन्तर होनी चाहिये। और सुख-दुःखकी तरह सर्पकी प्रतीति आन्तर नहीं होती है, किन्तु बाहर रज्जु-प्रदेशमें होती है। विज्ञान क्षणिक है, अतः उसकी प्रतीति भी क्षणिक होती है और विज्ञानका परिणाम ही सर्प है, अतः सर्पकी भी प्रतीति क्षणिक होनी चाहिये, किन्तु क्षणिक नहीं होती है। 'यह सर्प है' इस प्रकारकी प्रतीति जब तक रज्जु रूप अधिष्ठानका ज्ञान नहीं होता है तब तक होती ही रहती है अतः-क्षणिक विज्ञानका आकार सर्प नहीं कहा जा सकता है, अतः आत्म-ख्यातिका मत समीचीन नहीं है।

अन्यथा-ख्यातिका खंडन

और अन्यथा ख्यातिवादीका मत भी समीचीन नहीं है क्योंकि ज्ञेयके अनुसार ही ज्ञान होता है। और बिल-प्रदेशसे नेत्रकी धूनिका संयोग भी असम्भव है और संयोग असंभव होनेसे बिल-प्रदेशस्थ सर्पका ज्ञान भी असंभव हो जाता है,यह चिन्तामणिकार आदि नैयायिकोंने भी स्वीकार किया है,अतःबिल आदि देशमें जो सर्प है उसका ज्ञान नहीं हो सकता है। और चिन्तामणिकारने जो कहा था कि नेत्रमें दोष होनेके कारण रज्जुका रज्जुरूपसे भान नहीं होता है किन्तु रज्जुका सर्परूपसे भान होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञेयके अनुसार ही ज्ञान होता है, यह नियम है और ज्ञेय रज्जु है अतः ज्ञान भी रज्जुका होना चाहिये, इस प्रकार अन्यथा ख्याति भी समीचीन नहीं है।

सत्-ख्यातिका खंडन

शुक्ति-आदि देशमें सत्य रजतके अवयव रहते हैं, तथा नेत्रमें दोष होनेसे रजतके अवयवोंसे रजत उत्पन्न होता है और उस उत्पन्न रजतका ज्ञान होता है पुनः शुक्तिके ज्ञान हो जानेसे रजतका अपने अवयवमें ध्वंस होजाता है,यह कहना सत्-ख्यातिवादीका अत्यन्त युक्ति-शून्य तथा हास्य-जनक है। क्योंकि शुक्ति-ज्ञान होनेपर सबको रजतके त्रैकालिक अभावका निश्चय होता है, अर्थात् शुक्ति ज्ञान होनेके बाद रजत शुक्तिमें कभी नहीं था, इस प्रकार अनुभव होता है अतः रजतके अवयव शुक्ति आदि देशमें मानना असंगत है। और

हठ पूर्वक रजतके अवयव वहां मान भी लें तो रजतके अवयव उद्भूतरूप हैं। अथवा अनुद्भूत हैं कुछ कहना होगा।

यदि उद्भूत रूप हैं, ऐसा स्वीकार करें तो रजतकी उत्पत्तिसे प्रथम भी रजतके अवयवोंका प्रत्यक्ष वहां होना चाहिये किन्तु यह नहीं होता है अतः उद्भूतरूप नहीं हैं।

और यदि अनुद्भूतरूप हैं,ऐसा कहे तो अनुद्भूत रूपवान् रजतके अवयवसे रजत भी अनुद्भूतरूपका ही उत्पन्न हो सकता है और अनुद्भूतरूपके होनेके कारण रजतका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, अतः शुक्ति-प्रदेशमें सत्य रजतके अवयव रहते हैं, ऐसा कहना असंगत है।

एक रज्जुमें दश पुरुषको भिन्न भिन्न प्रकारका ज्ञान होता है। किसीको सर्प, किसीको माला, किसीको जल-धारा, इत्यादि ज्ञान होता है, यह नहीं होना चाहिये क्योंकि माला, धारा, तथा सर्प आदिके अवयवोंको रज्जु-प्रदेशमें कहना अत्यन्त विरुद्ध है, अतः सत्य रजतके अवयव शुक्ति-प्रदेशमें संभव नहीं हैं इस लिये सत्-ख्याति भी समीचीन नहीं है।

अख्यातिवादीका खंडन

"यह सर्प है" इस प्रतीतिमें यह (इदम्) अंशरूप रज्जुका सामान्य ज्ञान प्रत्यक्ष है, तथा सर्प अंश पूर्व दृष्ट स्मृति है, इस प्रकार अख्याति वादी अनुभवात्मक और स्मृत्यात्मक रूपसे दो ज्ञान मानते हैं, यह भी समीचीन नहीं है .क्योंकि सर्पको केवल स्मृतिमात्रसे भयभीत होकर कोई भाग नहीं सकता है, और यहां सर्प-भ्रम होनेसे भयभीत होकर सब भागते हैं। अतः सर्पका प्रत्यक्ष ही संमुख प्रदेशमें मानना

पड़ता है पूर्वदृष्ट सर्पकी स्मृति नहीं हो सकती है। और रज्जुके विशेष अंश रज्जुस्वरूपका ज्ञान होनेसे ऐसा निश्चय होता है कि मुझको रज्जुमें सर्पकी मिथ्या प्रतीति हुई थी, इस अनुभवसे प्रत्यक्षात्मक ज्ञान ही सिद्ध होता है पूर्व दृष्टकी स्मृति सिद्ध नहीं होती है तथा **'यह सर्प है'** यह एक ही ज्ञान सिद्ध होता है क्योंकि एक समयमें अन्तःकरणको स्मृतिरूप ज्ञान तथा प्रत्यक्षरूपज्ञान (दो प्रकारके ज्ञान) नहीं हो सकते हैं, अतः अख्याति वाद भी समीचीन नहीं है। इस प्रकार असत्-ख्याति, आत्म-ख्याति, अन्यथाख्याति, सत्-ख्याति तथा अख्याति ये सब ख्याति-वाद युक्ति-शून्य है।

अनिर्वचनीयख्याति

वेदान्त-सिद्धान्तमें अनिर्वचनीय ख्याति मानी गयी है। उसकी यह रीति है कि अन्तःकरणको वृत्ति नेत्र द्वारा निकलकर विषयके आवरण-को भंग करती हुई विषयाकार हो जाती है तथा उस वृत्तिमें जो चैतन्यका आभास है वह आभास भी वृत्तिके आकारका हो जाता है उस वृत्ति-द्वारा भग्नावरण जो विषय हैं उन्हें वह आभास प्रकाशित करता है और बाहरका सूर्यका प्रकाश भी आकर विषयके प्रकाशमें सहायक होता है। बिना बाहरके प्रकाशके केवल वृत्ति तथा आभास विषयको प्रकाशित नहीं कर सकते हैं, किन्तु जहां रज्जुमें सर्प-भ्रम होता है वहां अन्तःकरणकी वृत्ति नेत्र-द्वारा निकलकर रज्जुसे संयुक्त होती है। किन्तु नेत्रमें तिमिरादि दोष तथा मन्द अन्धकार रहनेके कारण रज्जुके समानाकार वृत्तिका स्वरूप नहीं होता है और वृत्ति

का स्वरूप रज्जुके समानाकार नहीं होनेसे रज्जुका आवरण भंग नहीं होता है और आवरण-भंग नहीं होनेसे रज्जु-उपहित चैतन्यका आच्छादिक अविद्याका नाश नहीं होता है, अतः रज्जु-उपहित चैतन्यको अविद्या रहनेके कारण वृत्तिसे रज्जुका संयोग होनेपर भी रज्जुका ज्ञान नहीं होता है, किन्तु उस रज्जुको आच्छादित करनेवाली अविद्याका सर्परूप परिणाम होता है। वह सर्प सत् नहीं होता है क्योंकि सत् हो तो रज्जुके ज्ञान होनेके बाद सर्पका बाध नहीं होना चाहिये, किन्तु बाध होता है अतः सर्प सत् नहीं है तथा असत् भी नहीं होता है क्योंकि असत् हो तो वंध्या-पुत्रकी तरह उसकी प्रतीति नहीं होनी चाहिये किन्तु प्रतीति होती है अतः वह सर्प असत् भी नहीं है।

इस प्रकार उस सर्पका सत् असत् कुछ भी स्वरूप सिद्ध नहीं होनेसे वह सत्-असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय कहा जाता है।

इस प्रकार शुक्ति-रजत आदि भ्रम-स्थलमें सर्वत्र अविद्याका परिणाम अनिर्वचनीय रजत आदि उत्पन्न होते हैं। उस अनिर्वचनीय वस्तुकी ख्याति अर्थात् प्रतीतिको अनिर्वचनीय ख्याति कहते हैं। यही अनिर्वचनीय ख्याति वेदान्त-संमत है।

भ्रम-स्थलमें सर्वत्र अविद्याका परिणाम सर्प तथा सर्प-ज्ञानकी एकही समयमें उत्पत्ति होती है और दोनोंकी एकही समयमें लय भी होती है अतः दोनों साक्षी-भास्य हैं।

जैसे भ्रम-स्थलमें अविद्याका परिणाम सर्प होता है उसी प्रकार उस सर्पका ज्ञानरूप वृत्ति भी अविद्याका परिणाम है। अन्तःकरणका परिणाम नहीं है क्योंकि यदि अन्तःकरणकी ज्ञानरूप वृत्ति होती, तो अधिष्ठानके ज्ञानसे उस वृत्तिका वाध नहीं होता। किन्तु ऐसा न होकर **नायंसर्पः** इस प्रकार प्रतीति होनेसे सर्प-ज्ञानका बाध होता है, इसलिये अन्तःकरणकी वृत्तिरूप सर्पका ज्ञान नहीं है किन्तु अविद्याका परिणाम रूप सर्प-ज्ञान है। अविद्याका बाध सर्व-संमत है।

उस अविद्याकी ज्ञानरूपवृत्तिको कई एक जगह ज्ञानाध्यास कहते हैं। इस प्रकार सर्पके ज्ञानकी उत्पत्ति भी अविद्यासे होती है। वह अविद्याकी वृत्तिरूप सर्प-ज्ञान, साक्षी चैतन्यमें स्थित अविद्याके सत्त्वगुणका परिणाम है, अर्थात् जिस समय रज्जु-उपहित चेतनके आश्रित जो अविद्या है उस अविद्याके तमोगुण अंशमें क्षोभ होकर सर्प रूप परिणाम होता है उसी समय साक्षी चेतनमें स्थित अविद्याके सत्त्वगुण-सर्पका ज्ञानरूप वृत्ति होती है। इस प्रकार सर्पादि-भ्रम-स्थलमें बाहरके रज्जु-उपहित चैतन्यके आश्रित अविद्याका तमोगुण अंश तो सर्पका उपादानकारण, है और वृत्तिरूप ज्ञानका (सर्प-ज्ञानका) उपादान कारण, चेतनके आश्रित आन्तर अविद्याका सत्त्वगुण अंश है किन्तु स्वप्नावस्थामें साक्षीके आश्रित जो अविद्या है उस अविद्याका तमोगुण अंश तो स्वप्नके पदार्थका उपादान कारण है तथा उसी साक्षीमें आश्रित अविद्याका सत्त्वगुण अंश स्वप्न-पदार्थके ज्ञानरूप वृत्तिका उपादान कारण है। अर्थात् साक्षीके आश्रित अविद्याके तमो

गुण अंशका तो सर्परूप परिणाम होता है, तथा सत्त्वगुण अंशका ज्ञान-रूप परिणाम होता है। इस तरह रज्जु-सर्प तथा उसका ज्ञान दोनों साक्षी-भास्य हैं। अविद्याकी वृत्ति-द्वारा साक्षी जिसका प्रकाश करना है वह साक्षी-भास्य कहा जाता है। रज्जु-सर्प तथा स्वप्नके पदार्थ अविद्याकी वृत्तिसे ही प्रकाशित होते हैं अतः साक्षी-भास्य हैं। रज्जुमें सर्प और उसका ज्ञान अविद्याका परिणाम है तथा चेतनका विवर्त्त है।

अध्यास

रज्जु आदिमें अनिर्वचनीय सर्प तथा उसके ज्ञानको अध्यास (भ्रम) कहते हैं।

वह भ्रम अविद्याका परिणाम है तथा चेतनका विवर्त है, क्योंकि जो उपादान कारणके समान स्वभावका हो, तथा उपादान कारणका रूपान्तर हो, उसको परिणाम कहते हैं।

और जो अधिष्ठानके विपरीत स्वभावका हो, तथा अधिष्ठानका अन्यथा रूप (रूपान्तर) होता हो, वह विवर्त कहा जाता है। उक्त नियमानुसार अनिर्वचनीय सर्प अविद्याका परिणाम है, क्योंकि सर्प तथा सर्पका ज्ञान अपने उपादानकारण अविद्याके समान स्वभावके हैं, क्योंकि अविद्याका स्वरूप भी अनिर्वचनीय है और सर्पका स्वरूप तथा सर्पका ज्ञान भी अनिर्वचनीय हैं अतः दोनोंका एक स्वभाव है, तथा अविद्याके स्वरूपका ही सर्प तथा सर्पका ज्ञान अन्यथा रूप भी है, अतः सर्प तथा सर्पका ज्ञान अविद्याका परिमाण है। और चेतनका विवर्त्त है।

और मिथ्या सर्पकी रज्जु-अवच्छिन्न चेतन अधिष्ठान नहीं किन्तु रज्जु ही अधिष्ठान है, यह कहना असंगत है क्योंकि मि सर्पका अधिष्ठान रज्जु-उपहित चेतन ही हो सकता है। रज्जु न हो सकता है, क्योंकि मिथ्या सर्पकी तरह रज्जु भी कल्पित है अ कल्पित वस्तु कल्पित वस्तुका अधिष्ठान नहीं हो सकता है, अ रज्जु-उपहित चेतन ही अधिष्ठान है। रज्जु नहीं है।

यदि रज्जु-विशिष्ट चेतनको अधिष्ठान कहा जाय तो भी चेत भागही अधिष्ठान हो सकता है। रज्जु अंशमें अधिष्ठानत्व बाधि है, अतः रज्जु-उपहित चेतनको ही अधिष्ठान कहना युक्ति-युक्त है उपाधिके भेदसे अधिष्ठान भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं और रज्जु जो विशेष रूपकी अप्रतीति है वही अविद्यामें क्षोभ-द्वारा सर्प औ सर्प-ज्ञानकी उत्पत्तिका निमित्त कारण है, उसी प्रकार रज्जुका विशेष रूपसे ज्ञान सर्प और सर्प-ज्ञानकी निवृत्तिका निमित्त कारण है।

शंका--रज्जुके विशेष ज्ञानसे सर्पकी तथा सर्प-ज्ञानकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिये क्योंकि अद्वैत-वादका यह सिद्धान्त है कि मिथ्या वस्तुकी अपने अधिष्ठानके ज्ञानसे निवृत्ति होती है और सर्प तथा उसके ज्ञानका अधिष्ठान रज्जु-उपहित चेतन तथा साक्षी चेतन है। रज्जु नहीं है। रज्जु अधिष्ठान नहीं होनेसे रज्जुके ज्ञानसे सर्पकी निवृत्ति नहीं हो सकती है।

रज्जुका ज्ञान ही सर्पके अधिष्ठानका ज्ञान है

समाधान--रज्जु आदिक जड़ वस्तुका ज्ञान अन्तःकरणकी

वृत्तिरूप है, किन्तु वृत्तिका प्रयोजन आवरण-भंग मात्र है। वह आवरण अज्ञानकी शक्ति है अतः अज्ञान रूपी आवरण जड़के आश्रित नहीं हो सकता है, किन्तु रज्जु रूप जड़का अधिष्ठान जो चेतन है, उस चेतनके आश्रित ही हो सकता है, अतः रज्जु-उपहित चैतन्यके आश्रित जो आवरण रूप अज्ञान है, उसको निवृत्त करनेके लिये अन्तःकरणकी वृत्ति नेत्र-द्वारा निकलकर रज्जुके समानाकार होती हैं और रज्जुके समानाकार होते ही रज्जु-उपहित चैतन्यका आवरण निवृत्त हो जाता है उसी समय वृत्तिमें जो चैतन्यका आभास है वह रज्जुका प्रकाश कर देता है। और वृत्तिमें जो साक्षी चैतन्य है वह स्वयं प्रकाश है। उसका प्रकाश आभासके द्वारा नहीं होता है। सारांश यह कि आवरण भंग करना वृत्तिका कार्य है। और वस्तुका भान करना आभासका कार्य है। अतः साभास अन्तःकरणकी वृत्तिका विषय केवल रज्जुरूप जड़ वस्तु नहीं है, किन्तु अधिष्ठान चैतन्य-सहित रज्जु है।

इसका कारण यह है कि अन्तःकरणसे उत्पन्न वृत्तिरूप ज्ञान चैतन्यको विषय करता है। रज्जुके ज्ञान होते ही रज्जुका अधिष्ठान चैतन्य निरावरण होकर अपने आप प्रकाशित होता है। रज्जुका अधिष्ठान चैतन्यका प्रकाश होना ही सर्पके अधिष्ठान चैतन्यका ज्ञान है, क्योंकि रज्जुका अधिष्ठान चैतन्य तथा सर्पका अधिष्ठान चेतन भिन्न भिन्न नहीं है, किन्तु एक ही है, अतः रज्जुका ज्ञान होते ही सर्पके अधिष्ठानका ज्ञान होता है, उस सर्पके अधिष्ठानके ज्ञानसे सर्पकी निवृत्ति हो जाती है।

शंका—यद्यपि इस रीतिसे सर्पकी निवृत्ति हो सकती है क्योंकि सर्पका अधिष्ठान रज्जु-उपहित-चैतन्य है, वह अधिष्ठान चेतन्य रज्जुके ज्ञान होनेसे निरावरण होकर प्रकाशित हो जाता है ज्ञात अधिष्ठान होनेसे सर्पकी निवृत्ति हो सकती है किन्तु सर्प-ज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि सर्प-ज्ञानका अधिष्ठान रज्जु-उपहित चैतन्य नहीं है, किन्तु साक्षी चेतन है। वह सर्प-ज्ञानका अधिष्ठान साक्षी चेतन अज्ञात है, इसलिये सर्प-ज्ञानकी निवृत्ति भी नहीं हो सकती है। रज्जु-उपहित चैतन्य सर्प-ज्ञानका अधिष्ठान नहीं है, अतः रज्जु-ज्ञानसे सर्प-ज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती है!

समाधान—विषयके अधीन ज्ञान होता है। विषय जो सर्प है उसीकी निवृत्ति होतेही विषयके अभावसे सर्प-ज्ञानकी भी अपने आप निवृत्ति हो जाती है। यदि यह कहा जाय कि कल्पितकी निवृत्ति अधिष्ठानके ज्ञान बिना नहीं होती है और सर्प-ज्ञान कल्पित है इसलिये उसका अधिष्ठान जो साक्षी चेतन है उसके ज्ञान बिना कल्पित-सर्पकी निवृत्ति नहीं हो सकती, यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि निवृत्ति दो प्रकारकी होती है—

(१) अत्यन्त निवृत्ति (२) लयरूप निवृत्ति

लयरूप निवृत्ति

कारणमें जो कार्यको लय है, उसे लयरूप निवृत्ति कहते हैं।

अत्यन्त निवृत्ति

कारण-सहित कार्यकी निवृत्तिको अत्यन्त निवृत्ति तथा बाध कहते हैं।

अपने अधिष्ठानके आश्रित जो अज्ञान है वह कल्पित वस्तुका कारण है। उस अज्ञान रूप कारण-सहित कल्पित कार्यकी निवृत्ति तो कारणके अधिष्ठानके ज्ञानसे होती है, किन्तु कारणमें जो कार्यकी लयरूप निवृत्ति है वह अधिष्ठानके ज्ञान-बिना भी हो जाती है।

जैसे सुषुप्ति और प्रलयमें सब पदार्थोंको अधिष्ठानके ज्ञान बिना ही अज्ञानमें लय हो जाती है। उन पदार्थोंकी लयका निमित्त कारण भोगोन्मुख कर्मोंका अभाव है, इस रीतिसे अधिष्ठान साक्षी चैतन्य के ज्ञान-बिना भी सर्प ज्ञानकी लय हो सकती है। उस सर्प-ज्ञानकी लयका निमित्त कारण सर्परूपविषयका अभाव है। इस प्रकार सर्पकी निवृत्ति भी रज्जु-उपहित अधिष्ठान चैतन्यके ज्ञानसे होती है। और उस सर्प रूप विषयके अभावमें सर्पज्ञानकी लय हो जाती है।

रज्जुके ज्ञानके समय साक्षीका भान होना है

अथवा सर्प और सर्प-ज्ञान दोनोंकी निवृत्ति रज्जुके प्रत्यक्ष ज्ञानमें भी हो सकती है, क्योंकि जब रज्जुका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तब अन्तःकरणकी वृत्ति नेत्र-द्वारा निकलकर रज्जु देशमें जाती है। और रज्जुके समान वृत्तिका आकार होता है। रज्जु-ज्ञानके समय वृत्ति और रज्जु-उपहित चैतन्य दोनों एक हो जाते हैं उनका भेद नहीं

रहता है। यहां यह रहस्य है कि चेतनका तो स्वरूपसे कभी भेद नहीं है, किन्तु उपाधिके भेदसे भेद होता है। वृत्ति-उपहित चेतनसे रज्जु-उपहित चेतनका भेद करने वाली उपाधि है। वह उपाधि रज्जु तथा वृत्ति है। वह वृत्ति और रज्जु यदि भिन्न भिन्न देश (जगह) में स्थित हो तब तो उपाधिवान् चेतनका भेद होता, किन्तु जब दोनों उपाधि एक ही देश (जगह) में होता है तब उपहित चेतनका भेद नहीं होता है।

इसी प्रकार रज्जुके प्रत्यक्ष ज्ञानके समय रज्जु-उपहित चेतन और वृत्ति-उपहित चेतन एक हो जाते हैं। वृत्ति चेतनको ही **साक्षी चेतन** कहते हैं, क्योंकि अन्तः करण और अन्तः करणको वृत्तिमें ओत-प्रोतभावसे स्थित प्रकाशक जो चेतनमात्र है वह साक्षी है, इस रीतिसे रज्जुके ज्ञानके समय रज्जु-उपहित चेतनसे साक्षी चेतन (वृत्ति चेतन) का अभेद हो जाता है। रज्जु-उपहित चेतनसे अभिन्न होकर साक्षी चेतनका भान भी रज्जु-ज्ञानसे हो जाता है, इस प्रकारसे रज्जु-ज्ञानके समयमें भी अधिष्ठान साक्षी चेतनके भान होनेसे सर्प-ज्ञानकी निवृत्ति हो सकती है।

कूटस्थदीपमें विद्यारण्य स्वामीने यह प्रक्रिया लिखी है कि अभास-सहित अन्तःकरणकी वृत्ति इन्द्रियके द्वारा निकलकर घटादि विषयको प्रकाशित करती है। घटादि विषय, तथा उसका ज्ञान तथा उसके ज्ञान करनेवाला ज्ञाता इन तीनोंको साक्षी प्रकाशित करता है जैसे "यह घट है" इस प्रकारकी आभास-सहित वृत्ति तो घटमात्रको प्रकाशित करती है और "मैं घटको जानता

हूं" अर्थात् "मैं" ज्ञाता तथा जानना रूप ज्ञान, तथा घटरूप विषय इस प्रकारकी त्रिपुटीको साक्षी प्रकाशित करता है। साक्षीके प्रकाशके विना त्रिपुटी (ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय) प्रकाशित नहीं हो सकती है। साक्षीके प्रकाशसे ही प्रकाशित होती है और साक्षी स्वयं प्रकाश है अपने प्रकाशमें दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करता है, अर्थात् अपने आप प्रकाश रूप है, इस रीतिसे त्रिपुटीके ज्ञानमें साक्षीका भान प्रकाश अवश्य मानना पड़ता है, अतः "मैं रज्जुको जानता हूं" इस प्रकारके अनुभव रूप त्रिपुटीमें भी साक्षीका प्रकाश (भान) होता है। सर्प-ज्ञानके अधिष्ठान साक्षी चेतनके ज्ञान हो जानेसे कल्पित सर्प-ज्ञानकी निवृत्ति भी हो जाती है अतः यह सिद्ध हो जाता है कि सर्पका अधिष्ठान रज्जु-उपहित चेतन है तथा सर्प-ज्ञानका अधिष्ठान साक्षी चेतन है। तथा उन दोनों अधिष्ठा-नोंका ज्ञान रूप "मैं रज्जुको जानता हूं" इस प्रकारके अनुभवसे रज्जु-उपहित चेतन तथा साक्षी चेतनका प्रकाश (ज्ञान) हो जाता है तब जो रज्जु-उपहित चेतनमें अविद्याका परिणाम रूप सर्प है वह निवृत्त हो जाता है। तथा साक्षी चेतनमें जो अविद्याकी वृत्तिरूप सर्प-ज्ञान है वह भी निवृत्त हो जाता है अर्थात् कल्पित सर्पकी तथा उसके ज्ञानकी अपने अधिष्ठान रज्जु-उपहित चेतनके तथा साक्षी चेतनके ज्ञान होनेसे निवृत्ति हो जाती है अतः रज्जु-उपहित चेतन तो सर्पका अधिष्ठान है तथा साक्षी चेतन सर्प-ज्ञानका अधिष्ठान है।

सर्प और सर्प-ज्ञानका अधिष्ठान साक्षी है

अथवा कई एक मतमें सर्प तथा सर्प-ज्ञानका एक ही अ-ष्ठान साक्षी चेतन है। बाह्य जो रज्जु-चेतन है वह सर्प तथा ज्ञानका अधिष्ठान नहीं हो सकता है, क्योंकि जितने ज्ञान होते सब प्रमाता अथवा साक्षीके आश्रित होते हैं बाह्य जो रज्जु-चे है उसके आश्रित नहीं होते हैं अतः साक्षी चेतन ही सर्प तथा स ज्ञानका अधिष्ठान है।

शंका—आन्तर साक्षी चेतनको अधिष्ठान मान लें आत्म-ख्याति सिद्ध हो जाती है क्योंकि अन्तःकरण-उपहित सा चेतन तो आन्तर है और वही साक्षी, सर्प सर्प-ज्ञानका अधिष्ठ है अतः अधिष्ठान साक्षी आन्तर रहनेसे सर्पतथा सप ज्ञान प्रतीति भी आन्तर होनी चाहिये। और यदि यह कहा जाय कि मायाके बलसे सर्प तथा सर्प-ज्ञानकी प्रतीति बाहर होती है, तो आत्म-ख्याति हो जाती है, इसलिये आन्तर साक्षी चेतनको अधि-ष्ठान मानना उचित नहीं है और अन्तःकरण-उपहित साक्षी चेतन तो सर्पका अधिष्ठान नहीं हो सकता है, तथा रज्जु-उपहित चेतन सर्प,ज्ञानका अधिष्ठान नहीं हो सकता है। और सर्प तथा सर्प ज्ञान का अधिष्ठान एक होना चाहिये!

समाधान—यद्यपि आन्तर साक्षी चेतन भी ठा नहीं हो सकता है किन्तु रज्जुके सम्मुख जो अन्तःकरणकी इदमा-कार वृत्ति है उस वृत्तिमें स्थित जो साक्षी चेतन है उस साक्षी

चेतनके आश्रित अविद्या ही सर्पाकार तथा सर्पके ज्ञानाकार परिणामको प्राप्त होती है अर्थात् इदमाकार वृत्ति-उपहित चेतनमें स्थित अविद्याका तमोगुण अंश तो सर्पका उपादान कारण है और उसी इदमाकार वृत्तिमें स्थित अविद्याका सत्त्वगुण अंश सर्पके ज्ञानका उपादान कारण है, अतः यह सिद्ध होता है कि सर्प तथा सर्पके ज्ञानका वृत्ति-उपहित चेतन अधिष्ठान है। वह वृत्ति रज्जु देशमें बाह्य है अतः वृत्ति-उपहित चेतन भी बाह्य है तथा सर्प और सर्प ज्ञान भी बाह्य है, अतः वृत्ति-उपहित चेतन अधिष्ठान हो सकता है वृत्ति-उपहित चैतन्य ही साक्षी चेतन है। वह साक्षी चेतन ही सर्प तथा सर्प-ज्ञानका आश्रय है। और जब रज्जुका ज्ञान होता है तब रज्जु-उपहित चेतन और वृत्ति दोनोंका एक रूप हो जाता है, और रज्जुके ज्ञान होते ही वृत्ति-उपहित साक्षी चेतनके आश्रित जो अविद्या है उसकी निवृत्ति हो जाती है तब सर्प तथा सर्प ज्ञानकी भी निवृत्ति हो जाती है। किन्तु जिस पुरुषको रज्जुका साक्षात्कार हो जाता है उस पुरुषको वृत्ति-उपहित साक्षी चेतनके आश्रित जो अविद्या है उस अविद्या की निवृत्ति हो जाती है। सर्प तथा सर्प-ज्ञानका उपादान जो अविद्या है उस अविद्याकी निवृत्ति होते ही सर्प तथा सर्प-ज्ञानका अध्यास भी निवृत्त हो जाता है, क्योंकि उपादान कारणकी निवृत्ति होनेसे कार्यकी निवृत्ति हो जाती है। और जिस पुरुषको रज्जुका ज्ञान नहीं होता है उस पुरुषको वृत्ति-उपहित साक्षी चेतनके आश्रित अविद्या तथा उस अविद्याका परिणामरूप सर्प और सर्प-ज्ञानकी भी निवृत्ति नहीं होती है, अतः वृत्ति-उपहित साक्षी

चेतन ही सर्प तथा सर्प-ज्ञानका अधिष्ठान है। और यदि रज्जु-उपहित चेतनको सर्प तथा सर्प ज्ञानका अधिष्ठान मानें, तो दश पुरुषोंके जो भिन्न भिन्न दश पदार्थ प्रतीत होते हैं वह नहीं होने चाहिये, क्योंकि रज्जु-उपहित चेतनके आश्रित अविद्याका परिणाम सर्प तथा सर्पके ज्ञानको ही माननेसे सबके लिये एक ही पदार्थ सर्प प्रतीत होना चाहिये। रज्जुमें भिन्न भिन्न दण्ड, मालारूपसे प्रतीति नहीं होनी चाहिये। अतः वृत्ति-उपहित साक्षी चेतन ही अधिष्ठान है क्योंकि जिस पुरुषकी वृत्ति-उपहित चेतनके आश्रित अविद्या है उसको ही प्रतीति होती है, और जिस पुरुषको रज्जुका साक्षात्कार हो जाता है उसकी वृत्ति-उपहित चेतनके आश्रित अविद्या-की निवृत्ति होनेसे सर्पका तथा सर्प-ज्ञानका अध्यास निवृत्त हो जाता है, इस रीतिसे बाह्य पदार्थ जो सर्प तथा सर्प-ज्ञान हैं उनका अधिष्ठान तो वृत्ति-उपहित साक्षी चेतन है और उपादान कारण, वृत्ति-उपहित चेतनके आश्रित जो अविद्या है, वह है।

तथा आन्तर स्वप्नके पदार्थ और स्वप्नके पदार्थ-ज्ञानका अधिष्ठान अन्तःकरण-उपहित साक्षी चेतन है, तथा अन्तःकरण-उपहित साक्षी चेतनके आश्रित जो अविद्या है वह स्वप्न तथा स्वप्न-ज्ञानका उपादान कारण है।

इस रीतिसे बाह्य सर्प और सर्प-ज्ञानका तथा आन्तर स्वप्न और स्वप्न-ज्ञानका उपादान अविद्या है। वह सत्-असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय है, अतः उसके कार्य बाह्य जो सर्प तथा सर्प-ज्ञान और आन्तर [illegible] तथा स्वप्न-पदार्थ-ज्ञान भी अनिर्वचनीय है। क्योंकि जो

उपादान कारणकी सत्ता होती है वही कार्यकी सत्ता होती है उस अनिर्वचनीय पदार्थकी जो प्रतीति (भान) वह अनिर्वचनीय-ख्याति है।

सर्प तथा सर्प-ज्ञान जिस तरह सिद्धान्तमें अनिर्वचनीय सिद्ध होता है उसी प्रकार यह जगत् (प्रपञ्च) तथा प्रपञ्चका ज्ञान भी अनिर्वचनीय है।

प्रपञ्चात्मक जगतका उपादान कारण तो ब्रह्म चेतनके आश्रित जो मूल अविद्या है, वह है। और ब्रह्मचेतन प्रपञ्चका अधिष्ठान तथा आधार है। जब तक ब्रह्मचेतन रूप अधिष्ठानका ज्ञान नहीं होता है तब तक प्रपञ्चात्मक जगत् सत् रूप प्रतीत होता रहता है, जब अधिष्ठानका ज्ञान हो जाता है तब सत्‌रूपसे जगतकी प्रतीति नहीं होती है।

यहां यह रहस्य है कि जैसे रज्जुके दो स्वरूप हैं। एक सामान्यरूप दूसरा विशेषरूप, जैसे—"यह रज्जु है" इस प्रतीतिमें रज्जुका "इदम्" अंश तो सामान्य रूप है। "रज्जु है" यह अंश विशेषरूप है।

रज्जुका "इदम्" सामान्य अंशकी प्रतीति तो सर्पके भ्रम होनेपर भी होती है अर्थात् "यह सर्प है" इस प्रतीतिमें भी 'इदम्' (यह) रज्जुका सामान्य अंश रहता ही है। तथा सर्प है' यह अंश अविद्याका है। यद्यपि "यह" अंश रज्जुका तथा सर्प अंश अविद्याका होनेपर भी भ्रमके समय अभिन्न होकर प्रतीत होता है। और रज्जुका विशेष अंश जो रज्जु है उसकी जब प्रतीति होती है तब सर्प अंश जो अविद्याका है, वह निवृत्त हो जाता है, किन्तु रज्जुका जो 'इदम्' अंश भ्रम-समयमें

भी प्रतीत होना था उसकी निवृत्ति नहीं होती है किन्तु सर्पसे अभिन्न होकर इदम् अंशकी प्रतीति होती है। अर्थात् यह सर्प है, इस रीतिसे मिथ्या सर्पसे अभिन्न होकर जो भ्रान्ति-समयमें भी प्रतीत होता है, वह 'इदम्' (यह) अंश रज्जुका सामान्य रूप है। और जिसका भ्रान्ति समयमें भान नहीं होता है, किन्तु जिसकी प्रतीतिसे सर्पकी भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है वह रज्जुका विशेष रूप है।

इसी प्रकार आत्माके भी दो स्वरूप हैं।

(१) सामान्य रूप । (२) विशेषरूप ।

सत् रूप सामान्य रूप है। असंग, कूटस्थ, नित्य मुक्त आदि विशेषरूप है।

मैं शरीर हूं, मैं मन हूं इस रीतिसे स्थूल-सूक्ष्म संघातमें भ्रान्ति समयमें अभिन्न होकर सत् रूपकी प्रतीति होती है अतः सत्रूप आत्माका सामान्य रूप है अर्थात् "स्थूल-सूक्ष्म संघात है" इस वाक्य अर्थमें 'स्थूल-सूक्ष्म संघात' अंश तो अविद्याका भ्रान्ति समयमें ही सत् रूप होकर प्रतीत होता है। अर्थात् "है" इस आत्मा-के अंशके साथ अभिन्न होकर भ्रान्ति समयमें प्रतीत होता है। आत्माके "है" रूप सत् अंशके साथ स्थूल-सूक्ष्म संघातके रहनेसे ही स्थूल-सूक्ष्म संघात सत्की तरह प्रतीत होता है।

भ्रान्ति-समयमें आत्माका असंग, कूटस्थ, नित्य मुक्त स्वरूप प्रतीत नहीं होता है।

आत्माके असंग आदि स्वरूपकी प्रतीति होनेसे स्थूल-सूक्ष्म

संघातकी भ्रान्ति रूप प्रतीति निवृत्त हो जाती है, इसलिये असंगता, कूटस्थता, नित्य मुक्तता और व्यापकता आदि आत्माके विशेष रूप हैं।

भ्रान्ति-स्थलमें अधिष्ठानका सामान्य रूप भ्रान्तिका आधार रहता है। अधिष्ठानका विशेष रूप भ्रान्तिका अधिष्ठान रहता है।

जैसे—सर्पका आश्रय जो रज्जु है उसका इदंरूप सामान्य अंश तो सर्पका आधार है। और विशेषरूप रज्जु अंश सर्पका अधिष्ठान है।

उसी प्रकार मिथ्या प्रपञ्चका आश्रय जो आत्मा है उसका सत् रूप सामान्य अंश तो मिथ्या प्रपञ्चका आधार है।

तथा असंगता आदि विशेष रूप मिथ्या प्रपञ्चका अधिष्ठान है।

सारांश यह कि आत्माका सत् रूप सामान्य अंश आधार है, क्योंकि उसकी प्रतीति मिथ्या प्रपञ्चके समयमें भी होती है। और आत्माके विशेष अंश असंगता आदि रूप हैं। क्योंकि अधिष्ठानके अपरोक्ष साक्षात्कार होनेसे मिथ्या प्रपञ्चकी निवृत्ति हो जाती है।

शंका—*अधिष्ठानता तथा आधारता आत्माकी सिद्ध होनेपर* भी प्रपञ्चका द्रष्टा कौन है? आत्माको तो द्रष्टा कह नहीं सकते, क्योंकि जो अधिष्ठान और आधार होता है वह द्रष्टा नहीं होता है।

जैसे—सर्पका अधिष्ठान और आधार रज्जु है। वह रज्जु द्रष्टा नहीं हो सकता है, किन्तु दूसरा ही पुरुष सर्पका द्रष्टा होता है। उसी

प्रकार मिथ्या प्रपञ्चका अधिष्ठान, आधार जो आत्मा है उससे भि
ही द्रष्टा होना चाहिये, और उससे भिन्न कोई नहीं है।

समाधान—अधिष्ठान और आधार दो प्रकारके होते हैं—

(१) जड़ रूप अधिष्ठान और आधार होता है।

(२) चेतन रूप अधिष्ठान, आधार होता है।

जैसे—सर्पका अधिष्ठान तथा आधार रज्जु जड़ रूप है। स्व
अधिष्ठान और आधार साक्षी चेतनरूप है, जहांपर जिस वस्तु
जड़ रूप अधिष्ठान और आधार होता है। वहांपर अधिष्ठान त
आधारसे भिन्न उस मिथ्या वस्तुका द्रष्टा होता है, जैसे सर्पका अधि
ष्ठान और आधार जड़ रूप रज्जु है, अतःउस रज्जुसे भिन्न कोई पु
ही सर्परूप मिथ्या वस्तुका द्रष्टा होता है।

और जहांपर जिस मिथ्या वस्तुका चेतनरूप अधिष्ठान त
आधार होता है, वहांपर अधिष्ठान तथा आधारसे भिन्न कोई द्रष्टा न
होता है किन्तु अधिष्ठान तथा आधार ही द्रष्टा होता है। जैसे—
मिथ्या स्वप्नका अधिष्ठान और आधार जो साक्षी चेतन है उस
भिन्न कोई द्रष्टा स्वप्नका नहीं है, किन्तु साक्षी चेतन ही द्रष्टा है।

इस प्रकार प्रपञ्चका अधिष्ठान और आधार ब्रह्म रूप चेत
आत्मा ही द्रष्टा है, उससे भिन्न कोई प्रपञ्चका द्रष्टा नहीं है।

सिद्धान्तमें तो अधिष्ठान और आधारके जड़रूप, चेतन रू
भेद नहीं हैं, क्योंकि सिद्धान्तमें सर्व प्रपञ्चका (कल्पित जगतका)
अधिष्ठान और आधार चेतन आत्मा ही है वही द्रष्टा है
उससे भिन्न द्रष्टा कोई नहीं है। प्रपञ्चकी अपेक्षा चेतन अध्य

अधिष्ठान और आधार तथा द्रष्टा होता है। वास्तवमेंतो (परमार्थमेंतो) जब प्रपञ्च ही नहीं है तो द्रष्टत्व तथा अधिष्ठानत्व या आधारत्व भी आत्मा में नहीं हैं किन्तु नित्य, सत्, चित् आनंद रूप चेतन आत्मा ही है, इस प्रकार यह प्रपञ्च सत्, चित्, आनन्द रूप आत्मामें कल्पित है तथा उस कल्पित प्रपञ्चकी निवृत्ति भी कल्पित है, अतः प्रपञ्चके मिथ्या होनेसे उसकी निवृत्तिकी भी कोई विवेकी, ज्ञानी पुरुष इच्छा नहीं करता है। जैसे बाजीगरके द्वारा बने हुए खिलौनेंकी निवृत्ति बुद्धिमान् पुरुष नहीं चाहता है।

यद्यपि बाजीगरके खिलौनेकी तरह यह जगत् मिथ्या है इसलिये उसकी निवृत्तिकी इच्छाही नहीं होनी चाहिये, तथापि जैसे कोई पुरुष भयानक स्वप्न देखता है वह उस मिथ्या स्वप्नको भी निवृत्तिकी इच्छा बुद्धिमान् होनेपर भी करता है, उसी प्रकार यह संसार दुःखके हेतु होनेमें तथा प्रपंचके सुख भी दुःखात्मक होनेसे प्रपञ्चकी निवृत्तिकी इच्छा विवेकी पुरुषको भी हो सकती है।

सारांश—यह है कि इस सुख-दुखात्मक प्रपञ्चकी निवृत्ति सत्, चित्, आनन्द रूप आत्माके अपरोक्ष साक्षात्कार होनेसे ही जाती है, इसलिये उपनिषदोंमें "श्रोतव्यः" इत्यादि श्रुतियोंका बार बार श्रवण करके निदिध्यासन और उसके द्वारा अपरोक्ष साक्षात्कार कहा गया है। अतः सत्, चित्, आनन्द रूप आत्माके अपरोक्ष ज्ञानसे मिथ्या संसारकी निवृत्ति हो जाती है। अन्य उपाय आदिमें नहीं होती है। जैसे रज्जुमें दृष्ट सर्पसे जो दुःख होता है

यह मन्त्र तथा क्रियासे निवृत्त नहीं होता है। किन्तु रज्जुके ज्ञानसे ही निवृत्त होता है। उसी प्रकार मिथ्या सुख-दुःखात्मक जगत्की निवृत्ति भी अन्य उपायसे नहीं हो सकती है, किन्तु आत्म-ज्ञानसे ही निवृत्ति होती है किन्तु जबतक प्रारब्ध रहता है तबतक ज्ञानीको भी मिथ्यारूप प्रपञ्चकी प्रतीति होती है अर्थात् बाधिता-नुवृत्तिकी तरह केवल प्रतीति मात्र होती है जब प्रारब्ध नहीं रहता है तब ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।

* त्रयोदश रत्न समाप्त *

चतुर्दश-रत्न

पञ्चकोश-विवेक

स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरोंसे या अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोश इन पांचो कोशोंसे आत्मा पृथक् है, अर्थात् शरीर या उक्त कोश आत्मा नहीं हैं।

देहात्मवादी और उसका समाधान

शंका—'स्थूलोऽहम्' 'कृशोऽहम्' अर्थात् मैं स्थूल हूं 'मैं कृश हूं, इस प्रकारके सार्वजनीन (सब लोगोंकी) प्रतीति होनेसे अन्नमय कोश या स्थूल शरीर ही आत्मा सिद्ध होता है, क्योंकि स्थूलता तथा कृशता इस स्थूल शरीरके धर्म हैं। यह शरीर ही मोटा होता है और पतला भी होता है, यह प्रत्यक्ष है। और उसी स्थूल शरीरके साथ 'अहम्' का सामानाधिकरण्य प्रतीत हो रहा है। जैसे

'स्थूलः अहम्' यहां 'अहम्' पदका अर्थ 'मैं' अर्थात् आत्मा है। और 'स्थूलः' पदका स्थूल (मोटा) अर्थ होता है।

सारांश यह कि 'अहम्' शब्दसे या 'मैं' शब्दसे जिस वस्तुका इशारा है वही स्थूल है या कृश है, इस प्रकारकी यथार्थ प्रतीति विद्वान् को भी हो रही है और इस अन्नमय कोशके ही कभी उपचय (वृद्धि) होनेमें स्थूलता होती है। और कभी अपचय (ह्रास) होनेसे कृशता होती है, अतः सिद्ध है कि यह स्थूल शरीर ही आत्मा है और इस स्थूल देहसे भिन्न कोई आत्मा प्रतीत भी नहीं होता है।

समाधान—"जो वस्तु उत्पत्ति-विनाशशाली है वह अनात्मा है, जैसे घट आदि वस्तु उत्पत्ति-विनाशशाली होनेमें अनात्मा है" इस प्रकारके तर्कसे सिद्ध है कि यह शरीरभी अनात्मा है, अर्थात् आत्मा नहीं है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति और इसका विनाश भी प्रत्यक्ष है। और इस शरीरको आत्मा माननेमें **कृत-नाश, अकृताभ्यागम** ये दो प्रकारके दोष हो जाते हैं।

कृत-नाश

किये गये पुण्य, पाप कर्मोंका सुख, दुःखरूप फलोंके भोग विना ही जो नाश है उसे कृतनाश कहते हैं।

अकृताभ्यागम

नहीं किये हुए पुण्य-पाप कर्मोंके सुख, दुःखरूप फलोंकी जो प्राप्ति है उसे अकृताभ्यागम कहते हैं।

स्थूल देहको आत्मा माननेसे इस देहरूप आत्माके नाश होनेपर

देहसे भिन्न आत्माके अभाव रहनेसे इस देहके द्वारा किये गये पुण्य और पाप कर्मका फल-भोग नहीं हो सकता है, क्योंकि भोगनेवाला (भोक्ता) आत्मा तो शरीर ही था, उसका नाश (मरण) हो गया, अब कौन भोगेगा। इस प्रकार विना फल-भोगसे ही कृत धर्माधर्म कर्मोंका नाश हो जाता है, यह कृतनाश इस मतमें मानना पड़ता है।

और अभी नवीन उत्पन्न देह-रूप जो आत्मा है उसे विना पुण्य, पाप कर्म किये ही जन्मकालसे सुख-दुःखरूप फलकी प्राप्ति होती है, यह अकृताभ्यागम भी इसमतमें मानना पड़ता है, जो सर्वथा शास्त्र और सृष्टि-मर्यादा विरुद्ध है। और 'स्थूलोऽहम्' 'कृशोऽहम्' यह जो प्रतीति है वह 'लोहितः स्फटिकः' की तरह भ्रमरूप है, और यह जो आक्षेप किया था कि स्थूल देहसे अतिरिक्त कोई आत्मा उपलब्ध नहीं होता है, यह कहना असत्य विरुद्ध है क्योंकि 'मम शरीरं रुग्णम्' अर्थात् मेरा शरीर रोगी है, इस प्रकारकी सार्वजनीन प्रतीति होनेसे इस स्थूल देह आदिसे भिन्न आत्मा सिद्ध होता है।

इन्द्रियात्मवादीका आक्षेप और उसका समाधान

शंका—'मूकोऽहम्' 'बधिरोऽहम्' अर्थात् मैं गूंगा हूं, मैं बहरा हूं, इस प्रकारकी प्रतीति लोगोंमें यथार्थ रूपसे दृष्ट है अतः इन्द्रिय ही आत्मा है, क्योंकि इस प्रतीतिमें इन्द्रियके साथ आत्माका . . . प्रतीत होनेसे दोनोंका अभेद ही सिद्ध होता है।

और प्राण-संवाद श्रुतिमें भी "अहं श्रेयसे विवदमानाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः" इन्द्रियोंका परस्पर विवाद करना सिद्ध है, और परस्पर विवाद करना चेतनका ही धर्म हो सकता है अतः इन्द्रिय ही आत्मा है।

समाधान—इन्द्रिय आत्मा नहीं है क्योंकि 'योऽहं घटम-द्राक्षं सोऽहमिदानीं शास्त्रं शृणोमि' अर्थात् जो मैंने घटको देखा था वही मैं शास्त्रको सुन रहा हूं, इस प्रकारकी सावजन न प्रतीति यथार्थरूपसे हो रही है। यदि इन्द्रियको आत्मा मानें तो उक्त प्रतीति नहीं हो सकती है क्योंकि देखना नेत्र इन्द्रियसे होता है और सुनना श्रोत्र इन्द्रिय से होता है। और उक्त प्रतीतिसे यह निश्चय होता है कि जो देखने वाला है वही सुननेवाला भी है, अतः भिन्न भिन्न इन्द्रियोंसे अतिरिक्त एक आत्मा सिद्ध होता है और भी 'इन्द्रियाणि अनात्मा, करणत्वात्, कुठारवत्' अर्थात् जो पदार्थ क्रिया के प्रति करण होते हैं वे अनात्मा ही होते हैं, जैसे छेदन क्रियाके प्रति करण रूप कुठारादि अनात्मा ही होते हैं। इसी प्रकार दर्शनादि क्रियाओंके प्रति करणरूप (साधन) होनेसे इन्द्रिय भी अनात्मा ही सिद्ध है।

और एक क्रियाके प्रति कारण तथा कर्ता एक नहीं हो सकते हैं किन्तु भिन्न भिन्न ही हो सकते हैं, अतः चक्षुरादि इन्द्रियोंको कर्ता तथा कारण कहना युक्ति-विरुद्ध है। इस लिये इन्द्रिय भी आत्मा नहीं है। और इन्द्रियोंकी चेतनता साधक प्राण-संवादकी जो श्रुति है

वह भी इन्द्रियोंके अभिमानी देवताविषयकी है अर्थात् इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओंका परस्पर संवाद करनेमें उस श्रुतिका तात्पर्य है, किन्तु इन्द्रियमें तात्पर्य नहीं है।

और 'मूकोऽहम्, बधिरोऽहम्,' इस प्रकारकी जो प्रतीति है वह 'लोहितः स्फटिकः' की तरह भ्रमरूप है, अतः इन्द्रियोंकी आत्मरूपता सिद्ध नहीं हो सकता है।

प्राणात्मवादीका आक्षेप और उसका समाधान

शंका—'क्षुत्पिपासावानहम्' अर्थात् क्षुधा, पिपासावान मैं हूं, इस प्रकार सार्वजनीन यथार्थ प्रतीत होनेसे प्राण ही आत्मा सिद्ध होता है, क्योंकि वह क्षुधा, पिपासा धर्म विशिष्ट है। और 'अन्योऽन्तरात्मा प्राणमयः' इस श्रुतिसे भी प्राण ही आत्मा सिद्ध होता है।

समाधान—वायुके विकार (कार्य) होनेसे प्राण भी वायुकी तरह आत्मा नहीं है। और 'क्षुत्पिपासावानहम्' यह प्रतीति "लोहितः स्फटिकः" की तरह भ्रमरूप है, अतः उस प्रतीतिसे प्राण की आत्म रूपता सिद्ध नहीं होती है। इसी प्रकार प्राणमय कोश भी आत्मा नहीं है। क्योंकि इन सबोंकी लय सुषुप्ति अवस्था में हो जाती है। और आत्मा साक्षी रूपसे वहां भी विद्यमान रहता है। और 'अन्योऽन्तरात्मा मनोमयः' इत्यादि श्रुतिका भी मनकी आत्मरूपता-सिद्धि करनेमें तात्पर्य नहीं है क्योंकि

'अन्योऽन्तरात्मानन्दमयः' इत्यादि श्रुति भी उसके प्रतिकूल हो उपलब्ध है।

विज्ञानात्मवादीका आक्षेप और उसका समाधान

शंका—अन्योऽन्तरात्मा ज्ञानमयः इस श्रुतिसे विज्ञान आत्मा सिद्ध होता है!

और **अहं कर्ता, अहं भोक्ता** इत्यादि लौकिक अनुभवसे भी कर्तृत्व, भोक्तृत्व धर्म-विशिष्ट विज्ञान ही आत्मा सिद्ध होता है।

समाधान—आकाशादि भूतोंके सत्त्व गुण अंशसे अन्तःकरण की उत्पत्ति कही गयी है अतः भौतिक (भूतोंका विकार) होनेसे अन्तःकरण भी घटादिकी तरह अचेतन ही है। आत्मा नहीं हो सकता है। और सुषुप्तिमें अन्तःकरणकी लय हो जाती है। और जिसकी लय होती है वह आत्मा नहीं है, यह तर्क सिद्ध है।

और "अहं कर्ता" आदि प्रतीति "लोहित स्फटिक" की तरह भ्रम रूप है। और "अन्योऽन्तरात्मा विज्ञानमय" इस श्रुतिका आत्माके विज्ञानरूप प्रतिपादन करनेमें तात्पर्य नहीं है क्योंकि 'अन्योऽन्तरात्मानन्दमयः' इत्यादि श्रुतिसे विरोध है।

आनन्दमयकोशात्मवादीका आक्षेप और उसका समाधान

शंका—आनन्दमय शब्दका वाच्य अर्थ जो सगुण है वही आत्मा है क्योंकि **'अहोऽहम्'** इस अनुभवसे कहानेवाली आनन्द-स्वरूप

सिद्ध होती है और 'अन्योऽन्तरात्मानन्दमयः' यह श्रुति आनन्दमय कोशको ही आत्मा रूप सिद्ध करती है !

समाधान—अज्ञान (आनन्दमयकोश) आत्मा नहीं है, क्योंकि अज्ञानकी महावाक्य-जन्य ज्ञानसे निवृत्ति होती है और वह देहादिकी तरह जड़रूप है, और समाधि अवस्थामें तत्ववेत्ता पुरुषको अज्ञान प्रतीत नहीं होता है, अतः अज्ञान भी आत्मा नहीं है।

और "अज्ञोऽहम्" इत्यादि अनुभव "लोहितः स्फटिकः" की तरह भ्रमरूप है और 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इस श्रुतिसे अधिष्ठानरूप साक्षीकी ही आत्म रूपता निश्चित होती है। अतः अज्ञान भी आत्मा नहीं है, इस प्रकार **शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि** इन सबोंसे भिन्न "अहं ब्रह्मास्मि" इस रूपसे जिस ब्रह्मका अनुभव होता है वही सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म है।

वृत्तिका निरूपण

तत्त्वमसि आदि महा वाक्यसे उत्पन्न जो अखंड ब्रह्म विषयकी अपरोक्ष वृत्ति होती है, उस वृत्तिसे अधिकारी पुरुषको अज्ञान की निवृत्ति तथा परमानन्दकी प्राप्ति होती है, यह शास्त्रमें कहा गया है। किन्तु यहां यह जिज्ञासा होती है कि वृत्तिका क्या स्वरूप है ! और वृत्तिमें क्या प्रमाण है ! और वृत्तिकी किस प्रकार उत्पत्ति होती है ! और वृत्तिका क्या प्रयोजन है ! अतः अब वृत्तिका स्वरूप निरूपण है। वृत्ति दो प्रकारकी होती है।

(१) प्रमावृत्ति (२) अप्रमावृत्ति

प्रमावृत्ति

विषय चैतन्याभिव्यंजकोऽन्तःकरणाज्ञानयोः परिणामविशेषो वृत्तिः

अर्थात् घटादि विषयमें अवच्छिन्न जो चेतन है, उस विषय-चेतनका अभिव्यंजक (प्रगट करनेवाला) जो अन्तःकरणका तथा अज्ञानका परिणाम विशेष है उसको वृत्ति कहते हैं।

यद्यपि क्रोधादि भी अन्तःकरणके परिणाम हैं और आवरणादि भी अज्ञानके परिणाम हैं, तथापि क्रोध आदि तथा आवरणादिमें विषय-चेतनका अभिव्यंजकत्व नहीं है और वृत्तिमें तो विषय-चेतनका अभिव्यंजकत्व है।

यद्यपि चक्षु आदि इन्द्रिय विषय-चेतनका अभिव्यंजक हैं तथापि चक्षु आदि इन्द्रिय अन्तःकरणका तथा अज्ञानका परिणाम नहीं हैं किन्तु भूतोंके सत् गुणके परिणाम हैं, और वृत्ति तो अज्ञान और अन्तःकरणका परिणाम विशेष है।

अभिव्यंजकत्व

अस्तिव्यवहारजनकत्वम् अभिव्यंजकत्वम् अर्थात् घटोऽस्ति, पटोऽस्ति, इस प्रकारका जो "अस्ति" का व्यवहार है, उसको उत्पन्न करता हो वृत्तिमें विषय-चेतनका अभिव्यंजकत्व है।

शंका—'अहं जानामि' इस प्रकारका अनुभव सब

लोगोंको होता है और इस अनुभवसे पुरुषमें ज्ञातृत्व (ज्ञान-कर्तृत्व) सिद्ध होता है। अन्तः करणमें नहीं हो सकता है,क्योंकि अन्तः करण भूतोंके कार्य होनेसे जड़ रूप है अतः ज्ञातृत्व उसमें नहीं है।

तथा असंग चेतनमें भी ज्ञातृत्व नहीं रह सकता है क्योंकि **'असंगोऽह्ययं पुरुषः' 'केवलो निर्गुणश्च' अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते** इत्यादि श्रुति, स्मृतिमें आत्मा को असंग कहा है। असंग होनेसे ज्ञातृत्व नहीं रह सकता है।

समाधान—यद्यपि इस रीतिसे अन्तःकरण तथा आत्मा किसीमें ज्ञातृत्वरूप धर्म नहीं रहता है, किन्तु "अहम्" इस प्रतीतिसे तो आत्मामें अन्तःकरणका अध्यारोप और **'अहं चेतनः'** इस प्रतीति-द्वारा अन्तःकरणमें आत्माके तादात्म्य सम्बन्धका अध्यारोप होता है अर्थात् आत्मामें अन्तः करणके अहंकार, इच्छा आदिका अध्यारोप करके तथा अन्तःकरणमें आत्माके सत्, चित्, आदिके केवल सम्बन्धका अध्यारोप करके ही अन्तःकरण-विशिष्ट जीवको "अहं जानामि, यह अनुभव होता है"।

बोधेद्धावृत्तिः प्रमा, वृत्तीद्धो बोधो वा प्रमा

अर्थात् चेतनका नाम बोध है उस चेतनरूप बोध-द्वारा प्रकाशित जो वृत्ति है उसका नाम प्रमा है।

अथवा वृत्तिमें प्रतिबिम्बित जो चेतनरूप बोध है वह प्रमा है वृत्तिका स्वरूप है। प्रमा दो प्रकारकी होती है।

(१) ईश्वराश्रया प्रमा (२) जीवाश्रया प्रमा

ईक्षणापरपर्याय अष्टव्यविषयाकारमाया-वृत्ति प्रति-बिम्बिता चित् ईश्वराश्रया प्रमा

अर्थात् सृष्टिके आदि समयमें पूर्वकल्पमें उत्पन्न जगतको विषय करनेवाली जो माया की वृत्ति है उस वृत्तिको श्रुतियोंमें ईक्षण नामसे कथन किया है उस मायाकी ईक्षण रूप वृत्तिमें प्रतिबिम्बित चेतनको ईश्वराश्रया प्रमा कहते हैं।

जीवाश्रया प्रमा

अनधिगताबाधितविषयाकारान्तःकरण-वृत्ति प्रति-बिम्बिता चित् जीवाश्रया प्रमा

अर्थात् अनधिगत (अज्ञात) तथा अबाधित जो विषय है उस विषयाकार अन्तःकरणकी वृत्तिमें प्रतिबिम्बित जो चेतन है वह जीवाश्रया प्रमा है।

प्रमाण

प्रमाकरणं प्रमाणम् अर्थात् पूर्व कथित जो जीवाश्रया प्रमा है उसका जो करण (साधन) होता है वह प्रमाण कहा जाता है, जैसे 'अयं घटः' इस प्रत्यक्ष प्रमाका चक्षु इन्द्रिय करण है, अतः चक्षु इन्द्रिय प्रमाण है।

जीवाश्रयाप्रमा भी दो प्रकारकी होती है

(१) पारमार्थिक (२) व्यावहारिक

तत्त्वमसि आदि वाक्य-जन्य "अहं ब्रह्मास्मि" रूप प्रमाको पारमार्थिक प्रमा कहते हैं।

और 'घट-पट' आदि रूप प्रपंचको विषय करनेवाली 'अयं घटः' 'अयं पटः' इत्यादि प्रमाको व्यावहारिक प्रमा कहते हैं। व्यावहारिक प्रमा छः प्रकारकी होती है।

१ प्रत्यक्ष प्रमा २ अनुमितिप्रमा ३ शाब्दी प्रमा ४ उपमिति प्रमा ५ अर्थापत्ति प्रमा ६ अनुपलब्धि प्रमा

प्रमाके छः भेद होनेसे प्रमाणके भी छः भेद होते हैं जैसे—

१ प्रत्यक्ष प्रमाण २ अनुमान प्रमाण ३ शब्द प्रमाण ४ उपमान प्रमाण ५ अर्थापत्ति प्रमाण ६ अनुपलब्धि प्रमाण

प्रत्यक्ष प्रमा

अबाधित वर्तमान योग्य विषय चैतन्याभिन्नं प्रमाणचैतन्यं प्रत्यक्ष प्रमा

अर्थात् संसार दशामें अबाधित, वर्तमान तथा प्रत्यक्षके योग्य जो विषय हैं उन विषयोंसे अवच्छिन्न जो चेतन है उस चेतन से प्रमाण-उपहित चेतनका जो अभेद है, वह प्रत्यक्ष प्रमा है।

चेतनके चार उपाधियोंके कारण चार भेद होते हैं। जैसे—

(१) अन्तःकरण-अवच्छिन्न चेतनको प्रमाता कहते हैं।

(२) जो अन्तःकरण वृत्ति अन्तःकरणसे लेकर विषयपर्यन्त नेत्र-आदि इन्द्रिय-द्वारा रहती है उस वृत्ति रूप प्रमाण-अवच्छिन्न चेतनको प्रमाण चेतन कहते हैं।

(३) विषय-अवच्छिन्न चेतनको विषय चेतन कहते हैं।

(४) जब वृत्ति विषयाकार हो जाती है तब विषयाकार-वृत्ति-अवच्छिन्न चेतनको प्रमा चेतन तथा फल चेतन कहते हैं।

जैसे—कूप (कुआं) में जो जल है वह कूप-जल कहा जाता है। जब कुएंका जल केदार (बागीचेकी करिया) में आता है तब केदार-जल कहा जाता है, इस तरह कुआं तथा केदारके सम्बन्ध होनेसे वही जल अनेक प्रकार कहे जाते हैं। उसी प्रकार अन्तःकरण-अवच्छिन्न चेतन प्रमाता चेतन है। अन्तःकरणकी वृत्ति-अवच्छिन्न चेतन प्रमाण चेतन है। अर्थात् जब अन्तःकरणसे निकली हुई वृत्ति नेत्र-आदि द्वारा घट आदि विषयमें पहुंचती है तब वृत्ति तो घट-अवच्छिन्न चेतनाश्रित जो आवरण है, केवल उसको निवृत्त करती है इसीको **वृत्तिव्याप्ति** कहते हैं।

तथा वृत्तिमें जो चिदाभास है वह घट-पटका प्रकाश करता है। उसको **फलव्याप्ति** कहते हैं। इस तरह जब घट-पटको वृत्ति विषय करती है तब "अहं घटं जानामि" अर्थात् अहंरूप अंतःकरण-अवच्छिन्न चेतन, घटरूप विषय-अवच्छिन्न चेतन तथा जानामिरूप प्रमाण-अवच्छिन्न चेतन तीनों उपाधियोंके एक जगह होनेसे एक हो जाते हैं अर्थात् अभेद हो जाता है। अथवा—

साक्षात्कारका करण मानते हैं तथा शुद्ध मनको सहकारी मानते हैं।

अनुमिति प्रमा

लिंग ज्ञान-जन्यज्ञानमनुमितिः अर्थात् लिंग (हेतु) ज्ञानसे जो ज्ञान होता है वह अनुमिति ज्ञान है। जैसे—**अयं पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात् यथा महानसः** अर्थात् यह पर्वत वह्निमान् है, धूमवान् होनेसे, जो, जो, धूमवान् होते हैं वह सब वह्निमान् होते हैं, जैसे महानस (रसोइ घर) है, इस प्रसिद्ध अनुमानके दृष्टान्तमें पर्वत तो पक्ष है। वह्नि साध्य है, धूम हेतु (लिंग) है, तथा महानस (रसोइ घर) दृष्टान्त है।

पक्ष

अनुमिति ज्ञानसे पूर्व जिस पदार्थमें साध्यका संशय रहता है वह पदार्थ पक्ष कहा जाता है, अतः पर्वत पक्ष है। क्योंकि अनुमितिसे पूर्व पर्वतमें वह्निका सन्देह होता है।

साध्य

पक्षमें हेतुके ज्ञान होनेसे ही जिस पदार्थका ज्ञान हो जाता है वह पदार्थ साध्य कहा जाता है। जैसे—पर्वतरूप पक्षमें हेतुरूप धूमके ज्ञान होनेसे ही वह्निका ज्ञान होता है अतः वह्नि साध्य है।

लिंग (हेतु)

साध्यके व्याप्तिका जो आश्रय होता है वह लिंग कहा जाता है।

जैसे—वह्नि रूप साध्यके व्याप्तिका आश्रय धूम है अतः धूम लिंग कहा जाता है।

व्याप्ति

साधन साध्ययोर्नियतसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः
अर्थात् साधन और साध्य दोनोंका जो अव्यभिचरित सामानाधिकरण्य है, उसको व्याप्ति कहते हैं।

जैसे—धूमरूप साधन (हेतु) का तथा वह्निरूप साध्यका अव्यभिचरित सामनाधिकरण्य है अर्थात् वह्नि रूप साध्यको छोड़कर धूमरूप साधन कभी नहीं रहता है, यही धूममें वह्निकी व्याप्ति है।

और धूमरूप साधनको छोड़कर वह्निरूपसाध्य तप्त-लोहमें रहता है। अतः वह्नि (अग्नि) में धूमकी व्याप्ति नहीं है।

दृष्टान्त

जिसमें धूम और वह्निके सहचारका ज्ञान होता है वह दृष्टान्त है। जैसे—रसोईके घरमें वह्नि तथा धूमका साथ रहनेका ज्ञान होता है। सिद्धान्तमें अनुमितिका उपयोग है, जैसे **'जीवो ब्रह्मा-भिन्नः सच्चिदानंदलक्षणत्वात्, ब्रह्मवत्'** अर्थात् जीवात्मा ब्रह्मसे अभिन्न है, सत्, चित्, आनन्दरूप होनेसे जो, जो, सत्, चित्, आनन्दरूप होता है वह ब्रह्मसे अभिन्न होता है।

जैसे—ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप होनेसे ब्रह्मसे (अपनेसे) अभिन्न है, उसीप्रकार जीव भी सच्चिदानन्दरूप होनेसे ब्रह्मसे अभिन्न है। और

"व्यावहारिक प्रपञ्चो मिथ्या,ज्ञान-निवर्त्यत्वात्,यत्र यत्र ज्ञान-निवर्त्यत्वं तत्र तत्र मिथ्यात्वं यथा शुक्ति-रजतादौ" अर्थात् व्यावहारिक प्रपञ्च मिथ्या है, ज्ञानसे निवृत्त होनेसे, जो, जो, ज्ञानसे निवृत्त होता है वह मिथ्या होता है। जैसे—शुक्ति-रजत आदि हैं। इस प्रकार अनुमानसे जीव और ब्रह्मका अभेद तथा प्रपंच मिथ्या सिद्ध होता है। और अनुमिति भी दो प्रकारकी होती है।

(१) स्वार्थानुमिति (२) परार्थानुमिति

स्वार्थानुमिति

जिस पुरुषको दूसरेके उपदेश विना ही व्याप्ति,लिंग-ज्ञान आदिसे जो अनुमिति होती है वह स्वार्थानुमिति है।

परार्थानुमिति

साध्यका स्वयं निश्चय करके दूसरोंके प्रति पञ्चावयव वाक्योंके प्रयोग-द्वारा साध्यका निश्चय कराना परार्थानुमिति है।

शंका—जीवके सच्चिदानन्द रूपकी सिद्धि हो जानेपर अनुमान के द्वारा ब्रह्मसे जीवका अभेद सिद्ध हो सकता है !

समाधान—जीवके सत्, चित्, आनन्द रूप होनेमें श्रुति, स्मृति, युक्ति,अनुभव ये चार प्रमाण हैं जैसे—**अविनाशीवाअरेय मात्मा सन्मात्रोनित्य शुद्ध बुद्धः** अर्थात् यह आत्मा विनाश-रहित है, सत्तामात्र है, नित्य है, शुद्ध है, ज्ञान स्वरूप है, इस तरह आत्माके सत्-रूपमें श्रुति प्रमाण है तथा 'नित्यःसर्वगतः

स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' अर्थात् यह आत्मा नित्य है, सर्वत्र व्यापक है, कूटस्थ है, अचल है, तथा सनातन है, इस तरह आत्माके सत्-रूपमें स्मृति भी प्रमाण है। जिस वस्तुका ज्ञानसे अभाव नहीं होता है वह वस्तु सत्‌रूप ही है। और आत्माका अभाव नहीं होता है अतः आत्मा सत्य है, इस तरह युक्ति भी है।

तथा ज्ञानीको 'अहं ब्रह्मास्मि' इस ज्ञानसे ब्रह्मका अनुभव होनेसे ब्रह्मरूपकी सत्‌रूपसे प्रतीति होती है, इस तरह अनुभव भी प्रमाण है। और 'अत्रायंपुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति' और स्वप्नमें सूर्य-चन्द्रादि ज्योतिके अभाव होनेपरभी इस आत्मरूप ज्योतिसे सब व्यवहार होते हैं तथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि तीनों अवस्थामें भोक्तारूप विश्व, तैजस, प्राज्ञ, तथा स्थूल, सूक्ष्म, कारण भोग्य पदार्थ तथा अन्तःकरणकी तथा अज्ञानकी वृत्तिरूप भोग इन सबोंसे विलक्षण चेतनरूप साक्षी सदा शिवरूप आत्मा है, इस प्रकारकी श्रुतियोंसे आत्माकी चेतनरूपता सिद्ध होती है "यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः, क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत" अर्थात् जैसे एक ही सूर्य सबका प्रकाशक है। उसी प्रकार एक ही आत्मा समस्त प्रपंचका प्रकाशक है। और आकाशका असंगत्व, व्यापकत्व निश्चय करके जिज्ञासुको ब्रह्मके असंगत्वके तथा व्यापकत्वके जाननेकी अभिलाषा होनेपर ब्रह्मनिष्ठ गुरुसे पूछता है कि ब्रह्मका क्या स्वरूप है! तब गुरु कहते हैं "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः" अर्थात् आकाशकी तरह आत्मा (ब्रह्म) सर्वत्र व्यापक है और यथा सर्वगतं

मौक्ष्म्या दाकाशं नोपलिप्यते अर्थात् जैसे-आकाश सब जगह विद्यमान रहनेपर भी किसी पदार्थसे लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार आत्मा भी सर्व शरीर तथा जगतमें व्यापक रूपसे विद्यमान है, किन्तु किसी देह आदि अनात्मवस्तुसे लिप्त नहीं होता है, अर्थात् आत्मा आकाशकी तरह सर्वत्र रहता है। इस प्रकार स्मृति भी प्रमाण है।

तथा जो घट-पट आदिका ज्ञान जाग्रत् अवस्थामें है वही ज्ञान स्वप्नमें भी है। तथा वही ज्ञान सुषुप्तिमें है अर्थात् जाग्रत्के घट-पटसे स्वप्नके पदार्थ विलक्षण हैं। स्वप्नसे सुषुप्तिके पदार्थ विलक्षण हैं, परन्तु जो ज्ञान जाग्रत्में है वही ज्ञान स्वप्नमें और सुषुप्तिमें भी है इस तरह एक ही ज्ञान तीनों समय (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) में है। ज्ञानमात्रमें कुछ भी भेद नहीं है अतः आत्मा नित्य सिद्ध होता है तथा "अहं अनुभवामि" इस तरहके अनुभवसे अहं रूपी जीवात्मा ज्ञान रूप है। तथा आत्मा सर्व-प्रिय भी है क्योंकि धन भी प्रिय होता है किन्तु धनसे भी पुत्र प्यारा होता है क्योंकि जब पुत्र किसी कारण राज-दण्डमें पकड़ा जाता है तब धनको खर्च करके भी उसे लोग छुड़ाते हैं, अतः पुत्र धनसे भी प्रिय है। तथा पुत्रसे भी यह स्थूल शरीर प्रिय है क्योंकि दुर्भिक्षमें पुत्रको देकर भी इस स्थूल शरीरकी लोग रक्षा करते हैं। और स्थूल [illegible] भी इन्द्रिय प्रिय है। क्योंकि जब कोई लाठी लेकर आता है [illegible] आंख, कान, नाक आदिको लोग बचाते हैं अतः शरीरसे इन्द्रिय

प्रिय और इन्द्रियसे भी प्राण प्रिय है, क्योंकि यदि किसी घोर अपराध करनेसे प्राण लेनेको राजाकी आज्ञा होती है तब लोग कहते हैं कि *आँख, कान काट लो किन्तु प्राण छोड़ दो*, इस तरह इन्द्रियोंसे प्राण प्रिय सिद्ध होता है, प्राणसे भी आत्मा प्रिय है, क्योंकि जब कोई बहुत भारी रोगी होता है तब कहने लगता है कि मेरी आत्मा बहुत दुःखी है *अतः प्राण चला जाय तो सुखी होता*, अतः प्राणसे भी आत्मा प्रिय है, इस प्रकारकी युक्तिसे भी आत्मा सर्व-प्रिय है। तथा सुषुप्तिमें आत्माके सुखरूपका अनुभव भी होता है क्योंकि जाग्रत्‌में सुषुप्तिके अनुभूत सुखकी स्मृति होती है तथा "मैं कदाचित् भी अप्रिय नहीं हूं" इस प्रकार अनुभवसे भी आत्मा आनन्दरूप सिद्ध होता है। इस तरह श्रुति, स्मृति, युक्ति तथा अनुभवसे आत्मा सच्चिदानन्द-रूप सिद्ध होता है और आत्मा सच्चिदानन्दरूप होनेसे ही ब्रह्मरूप सिद्ध होता है क्योंकि ब्रह्म भी सच्चिदानन्द रूप है, इस प्रकारके अनुमानसे जीव और ब्रह्मका अभेद सिद्ध होता है।

उपमिति प्रमा

अर्थात् सादृश्यको विषय करनेवाली जो प्रमा है वह उपमिति प्रमा है।

जैसे कोई पुरुष नगरमें गायको देखकर गवयपशुको देखने की अभिलाषासे किसी वनवासी पुरुषसे पूछता है कि गवय पशु कैसा होता है। तब वनवासी पुरुष कहता है कि **'गो सदृशो गवयः'** अर्थात् गौके सदृश गवय होता है। फिर कभी वही नगरवासी पुरुष वनमें जाता है और गवयको देखकर उस पुरुषको यह गवय गौ

(*गाय*) *के सदृश है, इस प्रकारका ज्ञान होता है अर्थात् गवयमें गौके* सादृश्य-ज्ञान होता है उस ज्ञानको उपमान प्रमाण कहते हैं। फिर अपनी नगरमें आकर गौमें गवयका सादृश्य ज्ञान होता है, उस ज्ञानको उपमिति प्रमा कहते हैं अर्थात् अपने गौमें गवय सादृश्यको *देखकर गवयके सादृश्यका ज्ञान करना उपमिति प्रमा है।*

"आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः" इत्यादि श्रुतियोंके द्वारा आत्माकी व्यापकता तथा असंगताका ज्ञान आकाशकी व्यापकता तथा असंगताके सादृश्यसे हो जाता है वह उपमिति प्रमा है। और शुक्ति-रजतके मिथ्यात्व निश्चयके सादृश्यसे जगतमें मिथ्यात्व निश्चय करना उपमितिप्रमा है।

अर्थापत्तिप्रमा

अनुपपद्यमानार्थदर्शनात्तदुपपादकभूतार्थान्तर कल्पनमर्थापत्तिप्रमा अर्थात् अनुपपद्यमान अर्थके ज्ञानसे उस अर्थके उपपादक रूप अर्थान्तर की जो कल्पना है उसको अर्थापत्ति प्रमा कहते हैं जैसे—किसी पुरुषने किसीको कहा कि **'पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुंक्ते'** अर्थात् यह पीन (मोटा) देवदत्त दिनमें भोजन नहीं करता है। श्रोता पुरुष उस देवदत्त पुरुषको (जो दिन में नहीं खाता है) स्थूलतारूप पीनत्व (मोटापन) को देखकर यह है कि दिनमें भोजन नहीं करके भी यदि रात्रिको भी करे तो शरीरको स्थूलतारूप पीनत्व सम्भव नहीं

हो सकता है अर्थात् विना रात्रि भोजनके स्थूलतारूप पीनत्व नहीं हो सकता है अतः शरीरके पीनत्व (मोटापन) देख कर रात्रि-भोजनके निश्चय करनेको अर्थापत्ति प्रमा कहते हैं ।

अर्थापत्ति दो प्रकारको होती है—

(१) दृष्टार्थापत्ति (२) श्रुतार्थापत्ति

दृष्टार्थापत्ति

दृष्ट अर्थकी अनुपपत्तिसे उसके उपपादक रूप अर्थान्तरकी जो कल्पना है, उसको दृष्टार्थापत्ति कहते हैं ।

जैसे—शुक्तिरूप अधिष्ठानके ज्ञान होनेसे 'नेदंरजतम्' इस प्रकार बाध-प्रतीति होती है वह बाध्यत्व दृष्ट अर्थ है। वह अन्यथा अनुपपन्न होकर रजतकी मिथ्यात्वकी कल्पनाका साधक होता है ।

श्रुतार्थापत्ति

श्रुत अर्थको अनुपपत्तिसे उसके उपपादक (साधक) रूप अर्थान्तरको जो कल्पना है ,उसको श्रुतार्थापत्ति कहते हैं ।

जैसे **तरतिशोकमात्मवित्** इस प्रकार शोककी निवृत्ति श्रुतियोंमें श्रुत है (श्रुत शब्दसे सर्व जगत् तथा कर्तृत्व आदिका ग्रहण करना) शोकरूप प्रपञ्चको, विना मिथ्यात्व माननेसे, ज्ञानसे निवृत्ति नहीं हो सकती है, और श्रुतिमें कहा कि बंधरूप शोक ज्ञानसे निवृत्त होता है अतः ज्ञानसे निवृत्त होनेसे बंध मिथ्या है, इस तरहके ज्ञानको श्रुतार्थापत्ति कहते हैं ।

और तत्वमसि आदि महावाक्योंसे जीव और ब्रह्मका वास्तवमें अभेद श्रुत है ।

यदि जीव और ब्रह्मका भेद औपाधिक हो तो जीव, और ब्रह्मका, वास्तव अभेद सम्भव है और यदि स्वरूपसे भेद हो तो श्रुतिप्रतिपादित अभेद-संगत नहीं हो सकता है, और श्रुतिका जीव-ब्रह्मके अभेदमें ही तात्पर्य है, अतः जीव, ब्रह्मका भेद औपाधिक है उस औपाधिक भेदकी जीव, ब्रह्मके वास्तव स्वरूपके ज्ञानसे निवृत्ति होकर वास्तव अभेद-निश्चय होना है, इसीको श्रुतार्थापत्ति कहते हैं।

अनुपलब्धि प्रमा

जिस अधिकरणमें जिस वस्तुका अभाव ज्ञान होता है उसी अधिकरणमें उस अभावके प्रतियोगीका जो ज्ञान है उसे अनुपलब्धि प्रमा कहते हैं।

उपलब्धिका अभाव अनुपलब्धि है। जैसे—अनुभव-सिद्ध प्रपञ्चका त्रैकालिक निषेध नहीं हो सकता है, अतः प्रपञ्चके स्वरूपका निषेध नहीं होता है, किन्तु प्रपञ्च पारमार्थिक नहीं है अतः पारमार्थिकत्व-विशिष्ट प्रपञ्चके तीनों समयमें अभावका श्रुति प्रतिपादन करती है। और यदि पारमार्थिकत्व-विशिष्ट प्रपञ्च होता तो पारमार्थिकत्व-विशिष्ट प्रपञ्चकी भी प्रतीत होती, किन्तु पारमार्थिकत्व विशिष्ट प्रपञ्चकी प्रतीति नहीं होती है अतः पारमार्थिकत्व-विशिष्ट प्रपञ्चका अभाव है। इस प्रकार पारमार्थिकत्व-विशिष्ट प्रपञ्चका अभाव भी ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें है और प्रपञ्चका भी अधिष्ठान ब्रह्म है, इस प्रकार के निश्चयको अनुपलब्धि कहते हैं।

अध्यास

अधिष्ठानमें विषमसत्ताक विवर्त तथा उसके ज्ञान दोनोंको अवभास कहते हैं और अवभासको ही अध्यास कहते हैं।

जैसे—शुक्तिमें रजत-भ्रम होनेसे शुक्तिमें अविद्याका परिणाम जो तात्कालिक अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न होता है उस प्रतिभासिक अनिर्वचनीय रजतको तथा उसके अनिर्वचनीय ज्ञानको अवभास या अध्यास कहते हैं। अथवा अध्यासका लक्षण यह है कि **"परत्र परावभासोऽध्यासः"** अपने अभावके अधिकरणमें अपने स्वरूप तथा उसके ज्ञानको अवभास या अध्यास कहते हैं। अवभास तथा अध्यास दोनोंका एक ही अर्थ होता है।

जैसे—शुक्तिमें पारमार्थिक तथा व्यावहारिक रजतके अभाव होनेपर भी शुक्तिमें उत्पन्न रजतरूप विषय तथा उसके ज्ञान दोनोंको अवभास या अध्यास कहते हैं।

यद्यपि अभाव और भाव एक अधिकरणमें नहीं रह सकता है तथापि दोनोंकी विषम सत्ता रहनेसे, भाव, अभाव भी एक अधिकरण-में रह सकते हैं।

जैसे—शुक्तिमें पारमार्थिक और व्यावहारिक रजतका अभाव है, और *प्रातिभासिक रजतका भाव भी है।*

भाव और अभाव एक अधिकरणमें एक समयमें दोनोंकी विषम सत्ता रहनेसे रह सकता है। अतः शुक्तिमें पारमार्थिक और व्यावहारिक रजतका अभाव होनेपर भी शुक्तिमें उत्पन्न अनिर्वचनीय रजत तथा उसके अनिर्वचनीय ज्ञानको अध्यास कहते हैं। यह अध्यास दो प्रकारके हैं:—

१ अर्थाध्यास २ ज्ञानाध्यास

अर्थाध्यास

प्रमाणाजन्य ज्ञान विषयत्वेसति पूर्व दृष्टत्वानधिकरण-मर्थाध्यासः अर्थात् जो पदार्थ प्रमाणसे अजन्य (अनुत्पन्न) ज्ञानका विषय होता है तथा पूर्व-दृष्टत्व धर्मका अधिकरण नहीं होता है अर्थात् पूर्व दृष्ट नहीं है वह पदार्थ अर्थाध्यास कहा जाता है।

जैसे—शुक्तिमें रजत तथा आत्मामें अन्तःकरण आदि अर्थाध्यास है, क्योंकि शुक्तिमें रजतको विषय करने वाला जो **'इदं रजतम्'** यह ज्ञान है वह अप्रमारूप होनेसे किसी भी प्रमाणके द्वारा जन्य नहीं है अतः शुक्ति-रजत प्रमाणोंसे अजन्य ज्ञानका विषय है तथा वह अपनी प्रतीतिसे पूर्व नहीं था, अतः पूर्व (पहले) दृष्टत्व धर्मका अनधिकरण भी है।

उसीप्रकार आत्मामें अहंकार आदि अन्तः करणके ज्ञान हैं वे किसी प्रमाणसे जन्य (उत्पन्न) नहीं (प्रमाणाजन्य) ज्ञानके विषय हैं। तथा वे अन्तःकरणादि अपनी प्रतीतिसे पूर्व आत्मामें नहीं थे अतः पूर्व-दृष्टत्व धर्मका अनधिकरण भी है।

अतस्मिंस्तद्बुद्धिर्ज्ञानाध्यासः *अर्थात् अधिकरणताके अयोग्य अधिकरणमें सजातीय वस्तुकी अथवा असजातीय वस्तुकी जो बुद्धि है उसे ज्ञानाध्यास कहते हैं।*

जैसे—वास्तवमें रजतकी अधिकरणताके अयोग्य जो शुक्ति है उसमें जो "इदं रजतम्" इस प्रकार बुद्धि है वह ज्ञानाध्यास है।

और अन्तःकरण आदि रूप अनात्माको अधिकरणताके अयोग्य आत्मारूप अधिकरणमें जो अनात्मा रूप प्रपञ्चकी बुद्धि है वह ज्ञानाध्यास है। अर्थात् किसी वस्तुका उसके अयोग्य अधिकरणमें जो बुद्धि है वह ज्ञानाध्यास है। अथवा अध्यासके इस प्रकार दो भेद हैं।

(१) स्वरूपाध्यास (२) संसर्गाध्यास

स्वरूपाध्यास

जो ज्ञानसे बाध्य होने योग्य वस्तु अपने अधिष्ठानमें स्वरूपतः अनिर्वचनीय उत्पन्न हो, उसका स्वरूपाध्यास होता है।

जैसे देहसे लेकर अहंकार पर्यन्त अनात्म वस्तु समस्त प्रपञ्च अपने अधिष्ठानके ज्ञानसे बाध होने योग्य हैं, तथा आत्मारूप अधिष्ठानमें स्वरूपसे अनिर्वचनीय उत्पन्न होते हैं, अतः आत्मामें प्रपञ्चका स्वरूपाध्यास है। तथा शुक्तिमें जो रजत है वह अपने अधिष्ठान शुक्तिके ज्ञानसे बाध होने योग्य है तथा शुक्तिमें रजत अनिर्वचनीय उत्पन्न होता है अतः उसका स्वरूपाध्यास है।

और व्यवहारिक अथवा पारमार्थिक रूपसे जिस पदार्थका स्वरूप तो अध्यासके प्रथम सिद्ध हो किन्तु उसका सम्बन्ध मात्र अनिर्वचनीय उत्पन्न हो, उसे संसर्गाध्यास कहते हैं, अर्थात् अधिष्ठान रूपी सम्बन्धीके ज्ञानसे बाधके अयोग्य वस्तुका स्वरूप अध्यस्त नहीं होता है किन्तु अधिष्ठान रूप सम्बन्धीमें अपना अनिर्वचनीय सम्बन्ध उत्पन्न होता है, उसे संसर्गाध्यास कहते हैं। जैसे मुखमें दर्पणका कोई संबन्ध नहीं है और दोनों पदार्थ व्यावहारिक हैं, किन्तु दर्पणमें मुखका अनि-

वैचनीय सम्बन्ध प्रतीत होता है। तथा रक्त वस्त्रमें "रक्तः पटः" यह प्रतीति होती है अर्थात् रक्तरूपवान् पट है, इस प्रतीतिसे रक्तरूपवान् पटमें तादात्म्य संबन्ध प्रतीत होता है। किन्तु रक्तरूपवान् कुसुमद्रव्य होता है, इस लिये रक्तरूपवान्‌का तादात्म्य कुसुमद्रव्यमें है, पटमें नहीं है। रक्तरूपवान् कुसुम द्रव्य और पट दोनों तो व्यावहारिक हैं किन्तु दोनोंका तादात्म्य अनिर्वचनीय है तथा उसी तरह "लोहितः स्फटिकः" इस प्रतीतिमें लोहितका तादात्म्य सम्बन्ध स्फटिक (सफेद प्रस्तरमें) प्रतीत होता है, किन्तु लोहितका तादात्म्य तो जवा-पुष्पमें है। स्फटिकमें नहीं है, किन्तु स्फटिकमें रक्तताका अनिर्वचनीय संबंध उत्पन्न होता है, उसी प्रकार आत्मतारूपचेतनता अहंकार आदिमें नहीं है क्योंकि श्रुतिमें कहा कि "साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च" अतः आत्मता चेतनमें ही है किन्तु आत्मरूप चेतनका अहंकारमें अनिर्वचनीय संबंध उत्पन्न होता है, इस लिये अहंकारमें आत्मवृत्ति चेतनतादात्म्यका अनिर्वचनीय तादात्म्य सम्बन्ध है, उसको संसर्गाध्यास कहते हैं।

अहंकारमें आत्मता तथा चेतनताकी केवल अनिर्वचनीय प्रतीति होनेसे ... पुरुष अहंकार आदिको आत्मा मानकर अहंकारके ... अनुभव करके दुःखी, सुखी होते हैं।

... होते हैं।

... संबंध-सहितसंबंधीका अध्या-

... धर्म-सहित धर्मीका अध्यास, अन्यो-

... अन्यतराध्यास

केवल संबंधाध्यास

अनात्मामें आत्माके केवल अनिर्वचनीय सम्बन्धके अध्यासको केवल संबंधाध्यास कहते हैं।

जैसे अन्तःकरणमें आत्माके स्वरूपाध्यास नहीं है। किन्तु अन्तःकरणमें आत्माके केवल संबन्धका अध्यास है, क्योंकि ज्ञान स्वरूप तो आत्मा है। अन्तःकरण ज्ञान स्वरूप नहीं है। किन्तु ज्ञानका संबन्ध अन्तःकरणमें प्रतीत होता है, अतः आत्माके केवल सम्बन्धका अन्तःकरणमें अध्यास है। सर्वत्र स्फूर्ति आत्माकी है। घट-पटकी नहीं है। जैसे—"घटः स्फुरति" यह प्रतीति होती है किन्तु स्फुरण-सम्बन्ध आत्माका है। अतः आत्माके सम्बन्धका सब पदार्थोंमें अध्यास है।

सम्बन्ध-सहित सम्बन्धीका अध्यास

आत्मामें अनात्माके स्वरूपका तथा सम्बन्धका अध्यास होता है अर्थात् आत्मामें अन्तःकरणके स्वरूपका तथा संबन्धका अध्यास होता है। जैसे रज्जुमें सर्पके स्वरूपका तथा सम्बन्धका अध्यास होता है।

धर्माध्यास

अविद्या (माया)की ऐसी अद्भुत महिमा है कि कहीं २ पर केवल धर्ममात्रका ही अध्यास होता है। जैसे नेत्रके धर्म काणत्व आदि आत्मामें प्रतीत होते हैं। जैसे—"अहं काणः" यह प्रतीति होती है, किन्तु "अहं नेत्रम्" यह प्रतीति नहीं होती है, अतः धर्मीका अध्यास नहीं है किन्तु केवल काणत्व रूप धर्मका आत्मामें अध्यास धर्माध्यास है।

धर्म-सहित धर्मीका अध्यास

आत्मामें अनात्मा रूपी धर्मी तथा उसके धर्मोंके अध्यासको धर्म-सहित धर्मीका अध्यास कहते हैं।

जैसे रज्जुमें सर्पके स्वरूपका तथा सर्पत्व आदि धर्मोंका अध्यास होता है। तथा आत्मामें अन्तःकरणके स्वरूपका तथा उस अन्तःकरणके धर्म कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिका अध्यास होता है, अतः अन्तःकरणका आत्मामें धर्म-सहित धर्मीका अध्यास है।

अन्योऽन्याध्यास

आत्मामें तो अनात्माके स्वरूपका अध्यास तथा अनात्मामें आत्माके केवल सबन्ध मात्रके अध्यासको अन्योऽन्याध्यास कहते हैं सत, चित, आनन्द और अद्वैत ये चार विशेष्य आत्माके हैं।

तथा असत्, जड़, दुःख और नाना अनात्माके विशेष्य हैं। केवल सत्, चित् इन दो विशेषणोंके संबन्ध मात्रका अध्यास होनेसे अन्तःकरण रूप अनात्मा सत् तथा चित् प्रतीत होता है और आत्मामें अनात्माके दुःख और नानात्वका स्वरूपसे अध्यास है, अतः "अहं दुःखी" तथा "अहमभिमानी" ऐसी जो प्रतीति होती है उसको अन्योऽन्याध्यास कहते हैं।

अनात्मामें तो आत्माका स्वरूप अध्यस्त नहीं है क्योंकि आत्मा नित्यरूप है, अतः आत्माका केवल सम्बन्ध मात्र अध्यस्त है, यही अन्यतराध्यास है अर्थात् स्वरूप, सम्बन्ध दोनोंमेंसे एकके अध्यासको अन्यतराध्यास कहते हैं।

केवल धर्माध्यास, धर्म-सहित धर्मीका अध्यास, और अन्यतरा-ध्यास ये तीन तो स्वरूपाध्यासके अन्तर्गत हैं।

केवल संबन्धाध्यास तो संसर्गाध्यास है। सम्बन्ध सहित-संबन्धी का अध्यास तो संसर्गाध्यास सहित स्वरूपाध्यास है।

अन्योन्याध्यासतो संसर्गाध्यास और स्वरूपाध्यास दोनोंके अन्तर्गत है।

भेद-भ्रांति

आत्मामें भ्रांति रूप संसार पांच प्रकारसे प्रतीत होता है। भेद-भ्रांति, कर्तृत्व आदिकी भ्रांति, संग-भ्रांति, विकार-भ्रांति सत्यत्वकी भ्रांति।

जैसे एक जीवसे अन्य जीव भिन्न प्रतीत होता है, तथा जीवमें भिन्न जड़ प्रतीत होता है, तथा ईश्वरसे जड़ भिन्न है, तथा एक जड़से दूसरा जड़ भिन्न है, इस प्रकारके भेदको भेद-भ्रांति कहते हैं।

कर्तापन-भोक्तापनकी भ्रांति

अन्तःकरणके धर्म कर्तापन, भोक्तापनकी आत्मामें प्रतीति होनी है।

संग-भ्रांति

आत्माका देहादिमें अहंतारूप तथा गृहादिमें ममतारूप सम्बन्धकी प्रतीतिको संग-भ्रांति कहते हैं।

विकार-भ्रांति

दुग्धके विकार दधिकी तरह ब्रह्मके विकार जीव तथा जगत् हैं, ऐसो जो प्रतीति होती है सो विकार-भ्रांति है।

इन भ्रान्तियोंमेंसे भेद-भ्रांतिकी निवृत्ति बिम्ब-प्रतिबि
दृष्टान्तसे होती है, अर्थात् जैसे बिम्बसे प्रतिबिम्ब भिन्न न
किन्तु प्रतिबिम्ब मिथ्या प्रतीत होता है उसी तरह ब्रह्मसे भिन्न
नहीं है किन्तु ईश्वरभाव, जीवभाव, जड़भाव तथा परस्परके
अज्ञानसे केवल प्रतीत मात्र होते हैं।

तथा कर्तापन, भोक्तापनकी भी निवृत्ति हो जाती है जै
स्फटिकमें लालरंगकी स्फटिक और लाल पुष्पके सम्बन्धसे प्र
होती है, उसी तरह अन्तःकरणके कर्तृत्व आदि धर्म (क
भोक्तापन) भी अज्ञानसे अन्तःकरणके कल्पित तादात्म्य सम्ब
आत्मामें प्रतीत होते हैं वास्तवमें आत्मामें कर्तापन, भोक्त
नहीं हैं।

तथा संग-भ्रान्तिकी निवृत्ति भी घटाकाश-महाकाशके दृष्टा
हो जाती है।

जैसे—घटाकाशसे महाकाश भिन्न नहीं है, घटरूप उपा
कारण घटाकाश रूपसे प्रतीत होता है, किन्तु घटके टूटना, फू
आदि धर्म आकाशमें नहीं हैं,उसी तरह देह आदिका संगरूप उपा
कारण आत्मा जीव कहा जाता है। तथा देह आदिके तथा गृह
अहंतारूप, ममतारूपधर्म संघातरूप उपाधिसे आत्मामें भा
होते हैं देहादिके जन्मादि धर्मोंका तो आत्मामें अणुमात्र भी सम्
नहीं है इसी तरह विकार-भ्रान्ति भी रज्जुमें सर्पके दृष्टांतसे नि
जाती है जैसे—मन्दान्धकारमें स्थित रज्जुका नेत्रके साथ सम्
रज्जुरूपमें भान नहीं होकर सर्परूपमें भान होना

अर्थात् रज्जु-उपहित चेतनके आश्रित अविद्यामें क्षोभ होकर सर्प रूपसे प्रतीति होती है। यह सर्प अविद्याका परिणाम है तथा रज्जुका विवर्त है।

इसी तरह ब्रह्म चेतनके आश्रित जो मूलाविद्या है उस मूलाविद्यामें प्रारब्ध रूप निमित्तसे क्षोभ होकर मूलाविद्याका जगत्‌रूप और जीवरूप परिणाम होता है, यह प्रपंच मायाका परिणाम तथा ब्रह्म चेतन रूप अधिष्ठानका विवर्त है, अतः ब्रह्मका विकार नहीं है।

सत्यत्वकी भ्रांति

इस तरह ब्रह्मसे भिन्न जगत्‌की सत्यताकी भ्रांति कनक-कुण्डलके दृष्टान्तसे निवृत्त हो जाती है। जैसे—कनक-कुण्डलका कार्य-कारण-भाव औपाधिक भेद-भासित है, अतः यह कल्पित है, क्योंकि कनकसे (सोनेसे) भिन्न सोनेके कुण्डलको लोग नहीं देखते हैं, अतः वास्तव अभेद है इसी प्रकार ब्रह्म और जगत्‌का कार्य-कारण भाव औपाधिक भेद भासित है अतः भेद कल्पित है। और विचार दृष्टिसे सच्चिदानन्द रूप आत्मासे भिन्न यह नाम रूपात्मक जगत् सिद्ध नहीं होता है नाम, रूप, कल्पित हैं। कल्पित वस्तुका अधिष्ठानसे वास्तव अभेद है, अतः ब्रह्म चेतनरूप अधिष्ठानसे भिन्न होकर जगत् सिद्ध नहीं हो सकता है इस तरह यह पांच प्रकारकी भ्रांति पांच दृष्टांतोंसे निवृत्त हो जाती है। इनमें तीन-भ्रांति तो त्वंपदार्थके अन्तर्गत है अन्य दो प्रकारकी भ्रान्ति तत्पदार्थके अन्तर्गत है।

इन भ्रान्तियोंमेंसे भेद-भ्रान्तिकी निवृत्ति बिम्ब-प्रतिबिम्ब दृष्टान्तसे होती है, अर्थात् जैसे बिम्बसे प्रतिबिम्ब भिन्न नहीं किन्तु प्रतिबिम्ब मिथ्या प्रतीत होता है उसी तरह ब्रह्मसे भिन्न कुछ नहीं है किन्तु ईश्वरभाव, जीवभाव, जड़भाव तथा परस्परके भेद अज्ञानसे केवल प्रतीत मात्र होते हैं।

तथा कर्तापन, भोक्तापनकी भी निवृत्ति हो जाती है जैसे-स्फटिकमें लालरंगकी स्फटिक और लाल पुष्पके सम्बन्धसे प्रतीति होती है, उसी तरह अन्तःकरणके कर्तृत्व आदि धर्म (कर्तापन भोक्तापन) भी अज्ञानसे अन्तःकरणके कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध आत्मामें प्रतीत होते हैं वास्तवमें आत्मामें कर्तापन, भोक्तापन नहीं है।

अर्थात् रज्जु-उपहित चेतनके आश्रित अविद्यामें क्षोभ होकर सर्प रूपसे प्रतीति होती है। वह सर्प अविद्याका परिणाम है तथा रज्जुका विवर्त्त है।

उसी तरह ब्रह्म चेतनके आश्रित जो मूलाविद्या है उस मूलाविद्यामें प्रारब्ध रूप निमित्तसे क्षोभ होकर मूलाविद्याका जगत्‌रूप और जीवरूप परिणाम होता है, यह प्रपंच मायाका परिणाम तथा ब्रह्म चेतन रूप अधिष्ठानका विवर्त है, अतः ब्रह्मका विकार नहीं है।

सत्यत्वकी भ्रांति

इस तरह ब्रह्मसे भिन्न जगतके सत्यताकी भ्रांति कनक-कुण्डलके दृष्टान्तसे निवृत्त हो जाती है। जैसे—कनक-कुण्डलका कार्य-कारण-भाव औपाधिक भेद-भासित है, अतः वह कल्पित है, क्योंकि कनकसे (सोनेसे) भिन्न सोनेके कुण्डलको लोग नहीं देखते हैं, अतः वास्तव अभेद है उसी प्रकार ब्रह्म और जगतका कार्य-कारण भाव औपाधिक भेद-भासित है अतः भेद कल्पित है। और विचार दृष्टिसे सच्चिदानन्द रूप आत्मासे भिन्न यह नाम रूपात्मक जगत सिद्ध नहीं होता है नाम, रूप, कल्पित हैं। कल्पित वस्तुका अधिष्ठानसे वास्तव अभेद